गुरुकुल पत्रिका

मासिक शोध पत्रिका

MONTHLY RESEARCH MAGAZINE

सम्पादक :

डा० जयदेव वेदालंकार

न्यायाचार्य, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

सीनियर प्रोफेसर—दर्शन विभाग

एवं

अध्यक्ष (डीन) – प्राच्य विद्या संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

आश्विन, कार्तिक और पौष	वर्ष—४५	संयुक्तांक अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर १९९३

मूल्य— ५ रुपये मात्र

सम्पादक मण्डल :

प्रकाशक : डा० जयदेव वेदालंकार
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मूल्य— २५ रुपये (वार्षिक)

किरण प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार ☎ : ४२५६७६

विषय सूची :-

क्रमांक	विषय का नाम	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
१.	श्रुति सुधा		
२.	सम्पादकीय	सम्पादक	
३.	औपनिषदिक विचारधारा में मुख्य आधारतत्त्व	डा० ईश्वर भारद्वाज, अध्यक्ष योग विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय	१—९
४.	महर्षि पंतजलि और आचार्य बुद्धघोष का भारतीय योग साधना में स्थान	डा० सुरेन्द्र सिंह, नेगी व्याख्याता दर्शन विभाग डा० हरिसिंह गौड़ विश्वविद्यालय सागर	१०—१७
५.	वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है	स्व० डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार पूर्व कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय	१८—२५
६.	स्वामी श्रद्धानन्द (महात्मा मुंशीराम) तथा गोपाल कृष्ण गोखले का पत्र-व्यवहार	प्रस्तुतकर्त्ता–डा० भवानीलाल भारतीय नन्दन वन जोधपुर (राजस्थान)	२६—३०
७.	वेद एवं भगवद्गीता का जीवात्म चिन्तन	डा० दिनेशचन्द्र धर्म मार्तण्ड वेद विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय	३१—४१
८.	वैदिक सोम का महत्त्व	डा० सत्यदेव निगमालंकार मौ० चाकलान, ज्वालापुर, हरिद्वार	४२—४८
९.	अवतारवाद	कौशलेन्द्र प्रसन्न, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय	४९—५२
१०.	कालिदास कृत कुमार सम्भव तथा जयशेखर सूरि कृत जैन कुमार सम्भव का भाषा सौष्ठव	डा० श्रीमती पद्मश्री अमित मुन्नालाल कालिज, सहारनपुर	५३—५८

११. हिन्दी एवं अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद	डा० कृष्णावतार अग्रवाल अंग्रेजी विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय	५९—६३
१२. शक्तिवाद निरुक्ति :-	डा० विजयपाल शास्त्री रीडर एवं अध्यक्ष दर्शन विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय	६४—६८
१३. वक्रोक्ति विभावनायां कुन्तकस्य स्वतन्त्र्यम्	श्री राधानाथ आचार्यः एम०ए०एम०फिल० बी०एड०, कृष्णचन्द्र महाविद्यालयः वीर भूमि पश्चिमवङ्गः	६९—७२
१४. व्यञ्जना—	डा० महावीर अग्रवाल रीडर संस्कृत विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय	७३—७६

श्रुति सुधा

नमस्ते रुद्र मन्यव उतो तु इषवे नमः ।
बाहुभ्यामुत ते नमः । (यजु० अध्याय १६ मन्त्र–१)

पदार्थः– नमः - वज्रम्, नम इति वज्र नाम । ते – तव, रुद्र – दुष्टानां शत्रूणां रोदयितः । इषवे – इष्णात्यभीक्ष्णं हिनस्ति शत्रून् येन तस्मै । नमः–अन्नम् बाहुभ्याम् – भुजाभ्याम् । उत – अपि । ते – तव । नमः – वज्रः ।

अन्वय– हे रुद्र ! ते मन्यवे नमोऽस्तु । उतो इषवे ते नमोऽस्तु । उत ते बाहुभ्यां नमोऽस्तु ।

भावार्थः– ये राज्यं चिकीर्षेयुस्ते बाहुबलं युद्ध शिक्षा–शस्त्रास्त्राणि च सम्पादयेयुः ।

हिन्दी अर्थः– हे रुद्र – दुष्ट शत्रुओं को रुलाने हारे राजन् ! ते – तेरे, मन्यवे– क्रोधयुक्त वीर पुरुष के लिये, नमः – वज्र प्राप्त हो । उतो – और इषवे – शत्रुओं के मारने हारे, ते – तेरे लिये नमः – अन्न प्राप्त हो, उत - और ते – तेरे, बाहुभ्याम्–भुजाओं से नमः – वज्र शत्रुओं को प्राप्त हो ।

भावार्थः– इस मंत्र का देवता रुद्र है जो क्षत्रिय राजा का वाचक है । इस मन्त्र में नमः शब्द के दो अर्थ है वज्र और अन्न । भाव यह है कि जो राज्य किया चाहें वे हाथ पाव का बल, युद्ध की शिक्षा तथा शस्त्र और अस्त्रों का संग्रह करें ।

स्वामी दयानन्द के भाष्य से



स्व0 श्री वीरेन्द्र वीर

पूर्व कुलाधिपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
साथ में श्री अश्विनी कुमार (एडवोकेट)
महामन्त्री आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब बैठे हैं।

सम्पादकीय

आर्यसमाज के नेता एवं स्वतन्त्रता सेनानी श्री वीरेन्द्र जी 'वीर' की अलविदा

आर्यसमाज के प्रधान, पंजाब के हिन्दुओं के संरक्षक, राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रबल पोषक और स्वतन्त्रता सेनानी श्री वीरेन्द्र जी 'वीर' अचानक पंजाब के हिन्दुओं को बिलखता हुआ छोड़कर दिवंगत हो गये। उपनिषदों के "चरैवेति चरैवेति" के सिद्धान्त पर चलने वाले, कर्मयोगी श्री वीरेन्द्र जी, दूरदर्शन से आये भेंटवार्ताकार के साक्षात्कार से निवृत्त हुये ही थे कि अचानक उन्होंने कहा 'मेरी तबियत कुछ बिगड़ सी रही है, ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम यात्रा का समय आ गया हो"। बस इतना ही कह पाये थे कि साढ़े पाच बजे उनकी अन्तिम यात्रा का समय आ पहुचा। जो प्रकाश पुञ्ज सदा दूसरों को राह दिखलाता रहा हो, देश की स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष करता हुआ कभी न घबराया हो, पजाब मे हिन्दी के लिये सरकार से लोहा लेता रहा हो और आर्यसमाज को अपनी लेखनी मे एवं अपने कर्त्तव्य से गति देता रहा हो वह नक्षत्र पचत्व में अचानक विलीन हो गया। वास्तव में आर्यसमाज के इतिहास मे श्री वीरेन्द्र जो 'वीर' को कभी भी विस्मृत नही किया जा सकता है।

ज्यो ही ३१-१२-९३ को उनका स्वर्गवास हुआ, पंजाब के कोने—कोने से आर्यसमाजी और हिन्दुओ के जत्थे के जत्थे अपने प्रिय नेता के अन्तिम दर्शन के लिये उमड़ पड़े। उन का अन्तिम सस्कार १—१—९४ को जालन्धर मे सम्पन्न हुआ उस समय लगभग दस हजार व्यक्ति तथा पंजाब सरकार के मुख्यमन्त्री सहित उनके मन्त्री मण्डल के समस्त मन्त्रीगण उपस्थित थे। श्री वीरेन्द्र जी की शोक सभा म पंजाब के राज्यपाल सहित अनेक मन्त्री, हरियाणा सरकार के मन्त्री गण, हिमाचल प्रदेश के अनेक मन्त्री और लगभग आठ हजार व्यक्ति शोक सभा मे २—१-९४ को उपस्थित थे। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति डा० धर्मपाल एव कुलसचिव

डा० जयदेव वेदालंकार ने भी शोक सभा में सम्मिलित होकर विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया ।

शोक सभा में पंजाब के राज्यपाल श्री सुरेन्द्र नाथ ने वीर जी को श्रद्धांजलि देते हुये कहा कि "श्री वीरेन्द्र जी बचपन से स्वतन्त्रता आन्दोलन में अपने पिता के पद चिन्हों पर चलते हुये कूद पड़े थे। मेरा परिवार उन दिनो पड़ोस मे ही रहता था। जब पुलिस श्री वीरेन्द्र जो को पकड़ कर ले जाती थी तो कई-कई दिन परिवार को ज्ञात नही होता था कि वीर जी किस जेल या हवालात मे बन्द है।

वास्तव में श्री वीरेन्द्र जी अनेक बार स्वतन्त्रता आन्दोलन में जेल गये। एक बार श्री वीरेन्द्र जी और आनन्द स्वामी के सुपुत्र श्री यश को फांसी की सजा भी हो चुकी थी। स्व० पण्डित ज्वाहर लाल नेहरु ने स्वय काला कोट पहन कर वकालत की थी और दोनों को फांसी से बचाया था। पंजाब में स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी विरोधी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। वहाँ पंजाब सरकार ने कैरों के मुख्यमन्त्रीत्व काल में हिन्दी विरोधी कानून बनाये। इसके परिणाम स्वरूप स्वामी आत्मानन्द जी के नेतृत्व में हिन्दी के समर्थन में आन्दोलन किया, उस समय श्री वीरेन्द्र जी का समाचार पत्र पंजाब सरकार के विरूद्ध आग उगलता था। पंजाब सभा का नेतृत्व स्वयं श्री वीर जी ने सम्भाला, वे जेल भी गये।

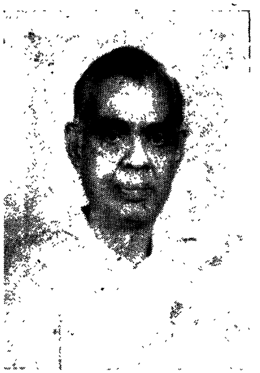
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के निर्माण में भी श्री वीरेन्द्र जी का विशेष हाथ रहा है। आप विश्वविद्यालय के कुलाधिपति भी रहे। कांगड़ी ग्राम में प्राचीन गुरुकुल कांगड़ी को गङ्गा की धारा से बचाने के सदैव प्रयत्नशील रहे। तत्कालीन कुलपति श्री सुभाष विद्यालंकार को इस निमित्त दस लाख रुपये प्रदान किये। यद्यपि वहां कार्य संतोषजनक नहीं हो पाया।

श्री वीरेन्द्र जी जब गुरुकुल कांगडी में अन्तिम बार आये तो गुरुकुल के प्रशासन से उन के गहरे मतभेद हो गये। मेरे घर पर उनका दोपहर का भोजन था। भोजन करने के पश्चात् कुछ देर तक गुरुकुल के प्रबन्ध के विषय में बातचीत हुई तो मैंने कहा मुझे

आपका इस विषय में आशीर्वाद चाहिये कि मैं विश्वविद्यालय की भूमि को बेचने से बचा सकूँ। मैंने यह कहकर न्यायालय का स्टे (निषेधाज्ञा) उनके हाथ पर रख दिया। वे एक मिनट चुप रहे, उसके बाद बोले मेरा आशीर्वाद आप के साथ है। बाहर चाहे मैं कुछ भी लिखूं या कहूं। मैं तुम्हारे साहस की प्रशंसा करता हूं। मुझे यह आशा नहीं थी कि वे मुझे इस विषय में आशीर्वाद देंगे। उनके महान् व्यक्तित्व की ही यह अभिव्यक्ति है। जिस समय १९७७ में गुरुकुल विश्वविद्यालय पर संकट के गहरे बादल मण्डरा गये थे, उस समय अवैध कब्जे को हटाने के लिये २०० कर्मचारियों के साथ स्वयं रुड़की जेल में रहे।

गुरुकुल पत्रिका परिवार की ओर से उस महान् विभूति को शतशः प्रणाम एवं परिवार के समस्त सदस्यों के लिये ईश्वर से प्रार्थना है कि उन्हें इस दुःख को सहन करने की शक्ति प्रदान करें।

जयदेव वेदालंकार
सम्पादक



स्व० डा० प्रशान्त कुमार वेदालंकार

डा० प्रशान्त वेदालंकार का महा प्रयाण

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के यशस्वी स्नातक महान् कर्मयोगी एवं निर्भीक पत्रकार डा० प्रशान्त वेदालंकार जी भी पिछले दिनों हमसे सदा-सदा के लिये बिछुड़ गये। वे मारीशस की यात्रा के लिये एयरपोर्ट पहुंचे और वहीं उनकी जीवन यात्रा महाप्रयाण बन गयी। प्रशान्त जी का यह आकस्मिक प्रयाण केवल परिवारजन और इष्टमित्रों के लिये ही शोककारक नहीं है अपितु सम्पूर्ण आर्यजगत् के लिये विशेष रूप

से गुरुकुल कांगड़ी-विश्वविद्यालय के लिये यह एक अपूरणीय क्षति है। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उनके चले जाने से एक शून्य सा उत्पन्न हो गया है जिसको भरा जाना असम्भव सा ही है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय और गुरुकुल पत्रिका परिवार उनके निधन से गहरे दुःख का अनुभव करता है।

डा० प्रशान्त वेदालंकार उच्चकोटि के वक्ता और निर्भीक लेखक थे। संवेदनशीलता के साथ बौद्धिक प्रखरता का अनूठा समन्वय उनके व्यक्तित्व में निहित था। उनका जीवन एक सत्यनिष्ठ कर्मयोगी और तार्किक बुद्धिवादी पत्रकार का जीवन था। अपने जीवन में अनेक उतार चढाव देखे किन्तु उनके स्वर मे कोई दीनता या पराजय का चिह्न दिखाई नहीं दिया। वे कर्म करते हुए जिए और कर्म करते हुए ही ससार से विदा हुए। अशक्त और असहाय अवस्था में खाट पर पड़े हुए दीर्घ जीवी होने से अल्प काल का प्रकाशमय और गतिशील जीवन लाख गुना बेहतर है। "मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयः न तु धूमायितं चिरम्" इस मूलमन्त्र को अपनाकर प्रशान्त जी एक तेजस्वी और कर्मप्रधान जीवन जीते हुए महाप्रयाण को प्राप्त हुए हैं।

प्रशान्त जी गुरुकुल कांगड़ी के स्वजन थे। समस्त कुलवासी शोकाकुल हृदय से उन्हे श्रद्धासुमन समर्पित करते हैं।

जयदेव वेदालंकार
सम्पादक

औपनिषदिक चिन्तनधारा में मुख्य आचार-तत्त्व

डा० ईश्वर भारद्वाज
अध्यक्ष, योग विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

उपनिषदें चिरन्तन ऋषियों की महामेधा से प्रसूत ज्ञान की वह दिव्य राशि हैं जो काल से अनवच्छिन्न हैं। काल की पुराणता जिसे जीर्ण नहीं कर सकती। अन्य वस्तुओं को काल परिवर्तित कर सकता है किन्तु उपनिषदों में जो सिद्धान्त ऋषियों ने प्रतिपादित किए हैं, उनमें परिवर्तन नहीं हो सकता। वे सिद्धान्त सार्वभौम, सार्वकालिक और सर्वजनहितकारी हैं। अध्यात्म विद्या केवल साधारण ज्ञान नहीं है अपितु एक महाविज्ञान है, मानव-मस्तिष्क की सबसे बड़ी उपलब्धि है। यह कहना भी कोई अति शयोक्ति नहीं होगी कि संस्कृत साहित्य का पूर्ण ज्ञान उपनिषदों में ही पर्यवसित होता है।

अध्यात्म-विद्या के तत्त्व—

भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन धारा के अन्तर्गत तीन स्तम्भ विवेच्य हैं— तत्व मीमांसा, प्रमाण—मीमांसा व आचार—मीमांसा। अध्यात्म विद्या में इन तीनों का विश्लेषण और अनुशीलन किया जाता है। तत्त्वमीमांसा तीन प्रकार की है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक। आध्यात्मिक तत्त्वों में आत्मा, मन व शरीर से सम्बन्ध रखने वाले तत्त्वों की परिगणना होती है। भौतिक तत्त्वों में पंचमहाभूत आते हैं। अतीन्द्रिय मूर्त व अमूर्त दिव्य शक्तियां आधिदैविक तत्त्वों में आती हैं। उपनिषदों में इन सभी प्रकार के तत्वों पर उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय की दृष्टि से विचार किया गया है।

समस्त तत्त्वों को समेकित करके यदि संक्षिप्त शब्दों में कहा जाए तो उनका नाम ब्रह्म (ईश्वर), पुरुष (आत्मा) व प्रकृति सिद्ध होता है। इन्हीं तत्त्वों मे सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। इन तत्त्वों में ब्रह्म प्राप्तव्य है, जीवात्मा उसका प्राप्तकर्ता है तथा प्रकृति उसकी प्राप्ति का माध्यम है। सम्प्रति हमारा वर्ण्यविषय उन आचार तत्त्वों का उल्लेख करना है, जिनसे ब्रह्म की प्राप्ति तो होती ही है, साथ-ही-साथ जो वर्तमान संदर्भ में भी मानवमात्र के अभ्युदय के लिए आचरणीय हैं।

औपनिषदिक आचार शास्त्र—

समस्त उपनिषदों में आचारशास्त्र की उपयोगिता को दुःख निवृति व स्वरुप प्राप्ति रूप मोक्ष के अधिगम हेतु स्वीकार किया गया है। समस्त विद्या, समस्त कर्म एवं समस्त उपदेशों का ध्येय केवल यही है। जो आचारशास्त्र इस उद्देश्य की प्राप्ति नहीं करता, वह वहां अनुपयोगी है। यहां उपनिषदों में विद्यमान आचारशास्त्र के मुख्य तत्वों को दिङ्मात्र उदाहृत किया जा रहा है—

१. ज्ञान कर्म समुच्चय—

विद्या व अविद्या अर्थात ज्ञान व कर्म दोनों का संवलित रूप ही मोक्ष के लिए उपयोगी है।[1] सम्भूति और विनाश इन दोनों की उपासना अवसायर-संतरण के लिए अनिवार्य है।[2] ईशोपनिषद् में कहा गया है, कि केवल विद्या और अविद्या अन्धकार में ले जाने वाली हैं।[3] अतः दोनों का समन्वित रूप ही मोक्षार्थियो के लिए उपासनीय है।

२. तप व श्रद्धा—

यह तो निर्विवाद है कि तत्वज्ञान से मोक्ष होता है।[4] किन्तु तत्वज्ञानप्राप्ति सबके लिए सुकर नही है। उसके लिए निरन्तर तप व अविचलित श्रद्धा और आस्था की नितान्त आवश्यकता है। स्मृति कहती है कि 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जो शांत विद्वज्जन भिक्षाचरण करते हुए अरण्य में रहकर तप और श्रद्धा का अर्जन करते हैं, वे ही रजोगुण से रहित होकर सूर्यद्वार से अमृतलोक को जाते हैं।[5]

---

१. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ई०—११

२. सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ई०-१४

३. अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ई०—९

४. तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था: विद्यतेऽयनाय ॥ —श्वे०—३/८

५. तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ताविद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ —मु०—१/२/११

ऐसा ही भाव छान्दोग्योपनिषद् में व्यक्त किया गया है।[1] अतः मोक्ष के अधिगम हेतु तप और श्रद्धा आवश्यक है। छान्दोग्य में कहा गया है कि जो व्यक्ति तप, दान आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन में जीवन व्यतीत करता है, उसका जीवन वास्तव में उपकारी का जीवन है।[2] इसीलिए पिप्पलाद ब्रह्मचारियों को (जिज्ञासुओं को) तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा का जीवन व्यतीत करने को कहते हैं।[3] तैत्तिरीयोपनिषद् का ऋषि तप से ब्रह्म को जानने का आदेश देता है।[4] केनोपनिषद् में तप, दम व कर्म ब्रह्मजिज्ञासु के लिए अनिवार्य बताया है।[5]

३. सत्य— उपनिषदों में 'सत्यं वद'[6], का उपदेश देकर विभिन्न दृष्टान्तों से सत्य कथन के महत्व को समझाया गया है। गणिकापुत्र सत्यकाम जाबाल द्वारा सत्य बोलने पर गुरु हारिद्रुमत द्वारा उसे उपनयन की दीक्षा प्रसन्नतापूर्वक देना सत्य के महत्त्व को ही प्रतिपादित करता है।[7] प्रश्नोपनिषद् में तो यहां तक कह दिया है कि जो असत्य भाषण करता है, वह समूल सूख जाता है।[8] मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि सत्य की ही जय होती है, असत्य की नहीं। देवमार्ग सत्य से ही बना

---

१. ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभव न्त्यर्चिषोऽहरह।
आपूर्यमाण पक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान षडुदङ्ङेति मासांस्तान्॥ —छा०–५/१०/१

२. अथ यत्तपोदानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति तास्य दक्षिणाः। -छा०-३/१७/४

३. तान्ह स ऋषिरुवाच, भूय, एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ......प्र०–१/२

४. तपसा ब्रह्मविजिज्ञासस्व। तैत्ति०–३/२

५. तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्॥केनो०–४/८

६. तैत्तिरीयोपनिषद्—१/११/१

७. नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सोम्याहरोपत्वानेष्ये न सत्यादगा इति। —छा०–४/४/५

८. समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति। —प्र०–६/१

हैं तथा आप्तकाम ऋषि जहां पहुंचते हैं वह भी सत्य का ही धाम है ।[1]

४. दान— वेद में 'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर' कहकर जिस दान की महत्ता प्रतिपादित की थी, वह उपनिषदों में यथावत बनी रही । इसी कारण कालान्तर में महर्षि पतंजलि ने योग की आचार–संहिता में 'अपरिग्रह' के रूप में दान को प्रतिष्ठापित किया ।

बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रजापति ने मनुष्यों को दान करने का आदेश दिया है ।[2] तप व दान का जीवन बिताने वाला दक्षिणा स्वरुप कहा गया है ।[3] इसीलिए कहा गया है कि श्रद्धा या अश्रद्धा से, लाभ या हानि में, लज्जा या भय से अर्थात् किसी भी प्रकार से भी दान करना चाहिये ।[4]

५. शम व दम— मन के निग्रह को शम तथा बाह्य दशेन्द्रियों के निग्रह को दम कहा जाता है । श्रेयस् व प्रेयस् उभयविध कल्याण के लिए शम और दम का आचरण मानवमात्र के लिए सेवनीय है ।[5] 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो[6] कहकर नचिकेता भोगों को ठुकरा देता है । सच ही है, जीर्ण होने वाली मरणावस्था को जानकर कौन ऐसे जीवन की कामना करेगा ?[7] भोगों के भोग द्वारा कामनाएं

---

१. सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ मु०–३/१/६

२. द इति दाम्यत् दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति ।
बृहदा०–५/२/३

३. यत्तपोदानमार्जवं......ता अस्य दक्षिणाः । छा० ३/१७/४

४. श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । ह्रिया देयम् । श्रिया देयम् । भिया देयम् ।
संविदा देयम् ॥ तै०–१/११/३

५. तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा–केनो०–४/८

६. कठो०–१/१/२७

७. अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन् मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन् ॥कठो०–१/१/२८

बढ़ती ही है, जैसे अग्नि में घृत डालने पर अग्नि बढ़ती जाती है।[1] हमारी इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर बनाए हैं। अतः उनका विषयोन्मुख होना स्वाभाविक है। मोक्ष के जिज्ञासु को चाहिए कि इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके वह अन्तरात्मा को देखे।[2]

६. **ब्रह्मचर्य**— ब्रह्मचर्य की महिमा से कौन परिचित नहीं है? ब्रह्मचर्य के बल के कारण ही इन्द्र देवताओं का राजा है।[3] देवताओं ने मृत्यु पर विजय ब्रह्मचर्य द्वारा ही पाई है।[4] अतः ब्रह्मचर्य को उत्कृष्ट तप कहा गया है। उपनिषदों में ब्रह्मचर्य की महत्ता का प्रतिपादन करते हुये पिप्पलाद ने अपने पास प्रश्नों के समाधान हेतु आए शिष्यों (सुकेशा, सत्यकाम, गार्ग्य, कौशल्य, वैदर्भि और कबन्धी) को एक वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने का आदेश दिया।[5] प्रश्नोपनिषद् में ही कहा गया है कि ऋग्वेद का ज्ञान मनुष्यलोक में ले जाता है, जहां वह तप, ब्रह्मचर्य व श्रद्धा से युक्त होकर परमात्मा की महिमा का अनुभव करता है।[6] इन्द्र व विरोचन जब आत्मा के ज्ञान हेतु प्रजापति के पास गए तो उन्होंने उन दोनों को ३२ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने का आदेश दिया[7]। आत्मा का रहस्य जानने के लिए इन्द्र शताधिक वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे। इसीलिए कहा है कि जो ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्यपूर्वक ढूढते

---

१. न जातु कामाः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मं इव भूय एवाभिवर्धते॥ मनुस्मृति
२. परांचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ —कठो० २/१/१
३. इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्। अथर्व– ११/५/१९
४. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। वही
५. तान्ह ह ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया······/ प्रश्नो० १/२
६. तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो
महिमानमनुभवति – प्रश्नो० ५/३
७. तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ। छा०–८/७/३

हैं, वह उन्हीं को प्राप्त होता है[1]। इसमे यह तो सिद्ध है कि ब्रह्मचर्य से जो शक्ति प्राप्त होती है, वह अपरिमित है। वह ऐहिक व पारलौकिक सामर्थ्य प्रदान करती है। इसी कारण कहा गया है— 'सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यति भूतले'। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि जिस (ब्रह्मचर्य) के द्वारा ब्रह्म को जाना जाए, वह यज्ञ है।[2] इस प्रकार ब्रह्मचर्य की महत्ता अनेक स्थलों पर प्रतिपादित की है।

७ — संन्यास व वैराग्य—

गृह, धन व मोह के त्याग को संन्यास कहते हैं। यही वैराग्य का मूल है। संन्यास के द्वारा मोह नष्ट होकर वैराग्य दृढ़ होता है तथा शुद्धान्तःकरण होकर आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होते हैं[3] मात्र यज्ञादि कर्मानुष्ठान से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती[4] उसके लिए वैराग्य आवश्यक है। अतः मनुष्य को चाहिए कि कर्म द्वारा प्राप्त होने वाले लोकों की परीक्षा करके वह वैराग्य को प्राप्त हो जाए।[5] तभी वह जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। संन्यास और वैराग्य तो उपनिषदों मे मुख्य सिद्धान्त रूप में वर्णित हैं।

१— तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। छान्दो० ८/४/३

२— अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण, ह्येव यो ज्ञाता, तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वाऽऽत्मानमनुविन्दते। यत्सत्त्रायणं······ यदनाशकायनमित्याचक्षते। – छान्दो० ८/५/१–३

३ — वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।— मुण्डको० ३/१/६

४— इष्टापूर्तंमन्यमाना – मु०– १/२/१०

५ — परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन॥
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ मु० १/२/१२

८— योग साधना—

उपनिषदों में योग साधना का प्रतिपादन करते हुए ऋषियों ने श्रेय मार्ग को चुनने के लिए ही उत्साहित किया है। योग मार्ग पर चलने वाला पथिक श्रेय और प्रेय दोनो पथो पर सुगमता से चल सकता है। विभिन्न उपनिषदो मे इसी साधना को कैवल्य प्राप्ति का उत्तम साधन माना गया है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् मे ध्यान, आसन, प्राणायाम व सिद्धियों का वर्णन प्राप्त होता है।[1] योगाभ्यास के योग्य स्थान तथा आसन की स्थिति का वर्णन किया गया है।[2] कठोपनिषद मे इन्द्रियो की स्थिरधारणा को योग कहा गया है।[3] कठोपनिषद् मे ही एक सौ एक नाड़ियो का वर्णन मिलता है।[4] ईश्वर पर विश्वास और उसके प्रति समर्पण भाव के बिना योग साधना में गति नहीं।[5] इसीलिए आस्तिक्य भाव को निरन्तर दृढ करते रहना चाहिए।[6] योगसाधना के द्वारा ही मरणधर्मा मनुष्य अमरता प्राप्त कर सकता है। उसके हृदय की समस्त ग्रन्थिया खुल जाती है।[7] यमराज ने

---

१ अग्निर्यत्राभिमथ्यते .... श्वे०—२/६
सवित्रा प्रसवेन . . . ,.... वही—२/७
त्रिरुन्नत स्थाप्य सम शरीर ...... वही— २/८
प्राणान् प्रपीडयेह . ,........ वही— २/९
समे शुचौ शर्करा .. .. वही— २/१०
नीहार धूमार्का .... वही— २/११
लघुत्वमारोग्य .... वही— २/१२

२ कठो०—२/१०

३ यदापचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु परमा गतिम्॥
ता योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदाभवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ कठो० २/३/१०—११

४. शत चैका हृदयस्य नाडयस्तासा............वही—२/३/१६

५. अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथ तदुपलभ्यते— कठो० २/३/१२

६ अस्तीत्येवोपलब्ध............ वही— २/३/१३

७ यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थय।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥ वही— २/३/१५

नचिकेता को योगविधि बताकर मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है।[1]

योगसाधना में प्रणवोपासना अत्यन्तावश्यक है। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर प्रणवोपासना का वर्णन प्राप्त होता है।[2]

सत्य, तप, ज्ञान, ब्रह्मचर्यादि को परमात्मप्राप्ति का साधन स्वीकार किया है[3] तथा तर्क, प्रमाद, निर्बलता और गुणहीनता के द्वारा भगवद्प्राप्ति असम्भव कही गई है।[4]

प्राण की महिमा तो अनेक स्थलों पर वर्णित है।[5]

---

१. मृत्यु प्रोक्तां नचिकेतोपलब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।कठो०-२/३/१/८

२. स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्–श्वे० १/१४
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा............ मु०– २/२/४
छान्दोग्य–अध्याय १ व २, तैत्ति०– १/८, माण्डू० ८/१२- प्रश्नो० ५/१-७

३. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। -मु० ३/१/५

४. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्। वही० ३/२/३
नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥ वही० ३/२/४

५. प्रश्नो०– १,२,३, प्रश्न
प्राणं देवानुप्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः।
.... प्राणं ब्रह्मोपासते। तैत्ति०– २/३/१
प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयत्यभिसंविशन्ति......वही ३/३
प्राणो वा इदं सर्वं भूत, यदिदं किंच तमेव तत्प्रापत्ति। छा०– ३/१५/४
प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च–छा० ५/१/१
प्राणः सामवेदः – बृ० १/५/५

बृहदारण्यकोपनिषद् व प्रश्नोपनिषद् में जाग्रतादि अवस्थाओं का वर्णन है।[1] तैत्तिरीयोपनिषद् में पंचकोशों का अत्यन्त सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है।[2] योग के उपनिषदों की ही संख्या २१ है। साधना की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

६. सदाचरण – क्या करणीय है ? क्या अकरणीय है ? उपनिषदों में इसका प्रतिपादन करके सदाचरण करने का उपदेश दिया गया है। शुभ कर्मों से शुभ लोक तथा अशुभ कर्मों से अशुभ लोकों की प्राप्ति होती है।[3] अतः शुभ कर्मों को करके सुख प्राप्त करना चाहिए। अशुभ कर्म जैसे – चोर, मद्यपानी, गुरु–निन्दक और ब्रह्मज्ञानी को मारने वाला —ये सभी अधोलोकों में जाते हैं।[4] अतः ऐसे कर्म करने चाहिए जिनमें इह लोक व परलोक दोनों का कल्याण हो। इसलिए दीक्षान्त में आचार्य उपदेश करता है कि सत्वधर्म का पालन करो। स्वाध्याय में प्रमाद न करो। माता-पिता-अतिथि का सत्कार करो। दान करो। हमारे सद्गुणों को धारण करो तथा दुर्गुणों को कभी धारण न करो।[5]

औपनिषदिक चिन्तनधारा मे आचारशास्त्र के ये स्फुट मणि तो यहा उनमें भरी अथाह ज्ञान राशि की ओर इंगित मात्र करते है। यदि इनमें अवगाहन करेंगे तो अनेक अन्य तत्वों का साक्षात् कर सकेंगे।

हमारी देववाणी का ही वह परम सौभाग्य कहा जाएगा कि व्यवहारिक ज्ञान के साथ-साथ पारलौकिक जीवन को सुन्दरतम बनाने के लिए महत्वपूर्ण तथ्य इसमें भरे पड़े हैं। यह हम सब संस्कृत प्रेमी जनों का दायित्व है कि नवीनतम अनुसंधान करके उस अमृत तत्व को जन-सुलभ करें ताकि जन-जन का कल्याण हो सके। शान्त्यो३म्।

१. बृहदा०-४-२.३
   प्रश्नो०—१—४
२. तैत्ति०-२-१-५, ३-२-६
३. पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्-प्रश्नो०-२-७
४. स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा च।
   एते पतन्ति चत्वारः पंचमश्चाचरंस्तैरिति॥ छा०-५-१०-९
५. वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर।
   स्वाध्यायान्माप्रमदः... मातृदेवो भव। पितृदेवो भव।
   आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।...यान्यस्माकं
   सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि॥ तै०-१-११-१-२

महर्षि पतंजलि और आचार्य बुद्धघोष की योग साधना का भारतीय योग साधना में स्थान–

डा० सुरेन्द्र सिंह नेगी
व्याख्याता दर्शन विभाग
डा० हरी सिंह गौर वि०वि० सागर (म०प्र०)

प्राचीन भारतीय मनीषियों के अनुसार जीवन का परम लक्ष्य अनंत सुख प्राप्त करना रहा है। सुख से तात्पर्य इन्द्रिय सुख से नहीं है क्योंकि इन्द्रिय सुख वास्तव में सुख नहीं है वह तो पराधीन, क्षण भंगुर और बन्ध का कारण होने के कारण दुःख रूप ही है। उन्होंने ऐसे सुख को प्राप्त करना चाहा है जो आत्मजन्य, अनन्त और अविनाशी हो।[1] इस सुख की प्राप्ति का अर्थ है मोक्ष की प्राप्ति।

भारत में जीवन की समस्याओं को हल करने के लिये दर्शन का सृजन हुआ है। जब मानव ने अपने को दुःखों के आवरण में घिरा हुआ पाया तब उसने पीड़ा और क्लेश से छुटकारा पाने की कामना की। इस प्रकार दुखों से निवृति के लिये उसने दर्शन को अपनाया। इसलिये प्रो० हिरियान्ना ने कहा है" पाश्चात्य दर्शन की भांति भारतीय दर्शन का आरम्भ आश्चर्य एवं उत्सुकता से न होकर जीवन की नैतिक एवं भौतिक बुराइयों के शमन के निमित्त हुआ था। दार्शनिक प्रयत्नों का मूल उद्देश्य था जीवन के दुखों का अन्त ढूंढना और तात्विक प्रश्नों का प्रादुर्भाव इसी सिलसिले में हुआ।[2] उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में ज्ञान की चर्चा ज्ञान के लिये न होकर मोक्षानुभूति के लिए हुई है। मोक्ष की प्राप्ति आत्मा के द्वारा मानी गयी है। यही कारण है कि चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शनों में आत्मा का अनुशीलन हुआ है। भारतीय दर्शन को आत्मा की परम महत्ता प्रदान करने के कारण कभी-कभी "आत्मविद्या" भी कहा जाता है। अतः व्यावहारिकता और आध्यात्मिकता भारतीय दर्शन की विशेषता है।

---

(१) आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार का-१३
(२) आउट लाइन आफ इंडियन फिलासफी, पृष्ट-१८,१९

भारत में यद्यपि सभी दर्शनों का विकास एक ही साथ नहीं हुआ है फिर भी सभी दर्शन-साथ-साथ जीवन्त रहे हैं। ज्यों ही एक सम्प्रदाय का विकास होता है, त्यों ही उसके मानने वाले अनुयायियों का भी प्रादुर्भाव हो जाता है। उस दर्शन के समाप्त हो जाने के बाद भी उसके अनुयायियों के द्वारा दर्शन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जीवित होता चला जाता है। भारत के विभिन्न दर्शनों के शताब्दियों तक जीवित रहने का यही रहस्य है। भारतीय दर्शन के आस्तिक सम्प्रदायों का विकास सूत्र-साहित्य के द्वारा हुआ है। प्राचीन काल में लिखने की परिपाटी नहीं थी। दार्शनिक विचारों को अधिकांशतः मौखिक रूप से ही जाना था। समय के विकास के साथ ही साथ दार्शनिक समस्याओं का संक्षिप्त रूप सूत्रों में आबद्ध किया गया। इस प्रत्येक दर्शन के प्रणेता ने सूत्र साहित्य की रचना की। गौतम, कणाद, कपिल, जैमिनी, पतंजलि और बादरायण द्वारा महान् दर्शन-सूत्रों का प्रणयन हुआ। ये दर्शन-सूत्र अत्यन्त ही संक्षिप्त, अगम्य और सारगर्भित होते थे। इनका अर्थ समझना साधारण व्यक्ति के लिए अत्यन्त ही कठिन था। अतः इनकी व्याख्या के लिये टीकाओं की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस प्रकार बहुत से टीकाकार प्रकाश में आये। दर्शनों का विकास सूत्र साहित्य के माध्यम से होने के कारण उनकी प्रामाणिकता अधिक बढ़ गई है। प्रत्येक सूत्र को समझ लेने के बाद उस दर्शन के विभिन्न दृष्टिकोणों को समझने में कठिनाई नहीं होती।

महर्षि पतंजलि की योग साधना का भारतीय योग साधना में स्थान:-

भारतवर्ष में योग का उद्भव प्राचीन काल से ही माना जाता है। सैंधव संस्कृति में इसके प्रमाण मिलते हैं। वर्तमान में भारत के अतिरिक्त पश्चिम में भी पातंजल योग का पर्याप्त प्रचलन है। इसका प्रसार और प्रचार भी इतना हुआ कि पातंजल-योग ही "योग" का पर्यायवाची बन गया है। इससे कुछ लोगों ने अनुमान लगाया है कि पतंजलि ही योग सिद्धान्त के पुरस्कर्ता हैं। लेकिन उनका यह कथन युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता।

महर्षि पतंजलि का समय विवादास्पद है विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं। जैकोबी और ए० हिरियन्ना ने उनका समय पांचवी शताब्दी का अन्त माना है।[1] डा० राधाकृष्णन ने उनका समय ईसा पूर्व तीसरा शताब्दी माना है।[2] पतंजलि ने "योग सूत्र" नामक ग्रन्थ लिखा। इसके प्रथम सूत्र "अथयोगानुशासनम्" में आये हुये "अनुशासन" शब्द से विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि पतंजलि योग के प्रवर्तक नहीं है। उन्होंने अपने पूर्व प्रतिष्ठित योग सिद्धान्त का परम्परागत अनुसरण कर उसमें संशोधन कर व्यवस्थित किया और उपदेश दिया है।[3] बलदेव उपाध्याय ने लिखा भी है– "पतंजलि ने योग का केवल अनुशासन किया अर्थात् प्रतिपादित शास्त्र का उपदेश मात्र दिया है। अतः वे योग के प्रवर्तक न होकर प्रचारक या संशोधक मात्र है। अनुशासन का अर्थ है-उपदेश दिये गये सिद्धान्त का प्रतिपादन। इससे सिद्ध है कि पतंजलि के पूर्व भी भारत में योग–साधना के बीज विद्यमान थे। अब प्रश्न यह होता है कि पतंजलि योग के उद्भावक नहीं थे तो उनसे पहले किसने योग का आविष्कार किया जिसका अनुशासन पतंजलि ने किया है।

कतिपय विद्वानों ने याज्ञवल्क्य स्मृति का हवाला देते हुये हिरण्यगर्भ को योग का पुरस्कर्ता माना है। इनका उपदेश प्रतिपादक शास्त्र "हिरण्यगर्भ योग" के नाम से प्रसिद्ध है। हिरण्यगर्भ और उनके योग सिद्धान्त को निःशंक रूप से प्राचीन और पतंजलि से पूर्व साख्यालम्बी योग माना गया है[4] लेकिन उनको योग सिद्धांत का आविष्कर्ता नहीं माना है। एक विचारणीय बात यह भी है कि तथाकथित योग के वक्ता हिरण्यगर्भ कौन है। "महाभारत" में कृष्ण अपने को हिरण्यगर्भ कहते हुये योगियों द्वारा पूजित बतलाते हैं। यदि स्मृतियों के आधार पर हिरण्यगर्भ को योग का पुरस्कर्ता मान लिया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि उपनिषदों और वेदों में इनके नाम का उल्लेख योग के प्रवक्ता के रूप में क्यों नहीं मिलता है। यद्यपि वहां यौगिक साधना के बीज यत्र-तत्र बिखरे हुये हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि योग दर्शन में जिस योग की परम्परा उपलब्ध है वह पतंजलि की मौलिक देन नहीं हैं अर्थात् पतंजलि योग सिद्धांत के आविष्कारक नहीं थे। यह सिद्धांत उन्हें परम्परा से प्राप्त हुआ था।

(१) एम० हिरियन्ना, भा०द०पृ० २६६ और उसकी पाद टिप्पणी।

(२) डा० राधाकृष्णन "इण्डियन् फिलासफी" भाग-२, पृ० ३४१

लेकिन इस बात से कोई भी इन्कार नही कर सकता है कि उन्होंने योग सिद्धान्त को परिमार्जित कर उसका विकास तथा प्रचार कर उसे अपनाने के लिये लोगों को प्रेरित किया। आत्म विकास के लिये "योग" एक महत्वपूर्ण साधन है। भारतीय संस्कृति के समस्त चिंतकों ने योग साधना के महत्व को स्वीकार किया है।

योग का अर्थः–

"योग" शब्द "युज्" धातु से "घञ्" प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। संस्कृत व्याकरण में "युज्" धातु के दो अर्थ हैं-संयोग (जोड़ना) एवं समाधि। भारतीय योग-दर्शन में 'योग" शब्द दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। महर्षि पतंजलि ने योग का अर्थ किया है- समाधि अर्थात चित्त वृत्ति का निरोध [1]। प्रायः सभी वैदिक योग चिन्तकों ने "योग" का अर्थ समाधि ग्रहण किया है। आचार्य हरिभद्र ने "योग" का अर्थ संयोग किया है। वे कहते हैं कि "मोक्षेण योजनाद् योगः [2] अर्थात योग एक सार्थक शब्द है क्योंकि वह आत्मा को मोक्ष से जोड़ देता है। जैन दर्शन में "योग" शब्द का अपना एक विशिष्ट अर्थ भी है।

'कायवाङ्मनः कर्म योगः [3] अर्थात शरीर वचन एवं मन की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। यह दो प्रकार का है-शुभ योग और अशुभ योग से पाप कर्मो का आस्त्रव होता है। यह दोनों प्रकार का योग कर्मबन्ध का कारण है। अतः मोक्ष (संवर) करना पड़ता है।

समाधि अर्थात चित्तवृत्तिनिरोध एक क्रिया है, साधना है। वह निषेधपरक

---

(१) पा०यो०सू० १/२

(२) योग बिन्दु-३१

(३) आ० उमास्वामी का तत्वार्थ सूत्र ६/१

नहीं प्रत्युत विधेयात्मक है। चित्त वृत्ति के निरोध का वास्तविक अर्थ है अपनी संसाराभिमुख चित्त वृत्तियों को रोक कर. साधनों को साध्य-सिद्धि या मोक्ष के अनुकूल बनाना। जैन विचारक मोक्ष के साथ सम्बन्ध कराने वाले क्रिया साधना को योग कहते है। इस प्रकार योग के दोनों अर्थों में वस्तुतः भेद नहीं किन्तु अभेद समझना चाहिये।

भारतीय संस्कृति मूलतः दो धाराओं में प्रवाहमान रही है-वैदिक एवं श्रमण। इस अपेक्षा से योग साधनाओं की भी दो परम्परायें हैं।-वैदिक एवं श्रमण परम्परा। दोनों परम्पराओं का अपना स्वतन्त्र चिन्तन एवं मौलिक परिप्रार्श्व है। फिर भी दोनों परम्पराओं के विचारों में भिन्नता के साथ-साथ पर्याप्त साम्य भी है।

वैदिक योग परम्परा:-

वेद-उपनिषद काल की अपेक्षा षड्दर्शनों में योग की रूपरेखा अधिक स्पष्ट हो गई थी। योग दर्शन का प्रस्तोता ग्रन्थ महर्षि पतंजलि का योगसूत्र है। इसमें जो योग का स्वरूप प्राप्त होता है, वह वैदिक योग परम्परा का पूरा प्रतिनिधित्व करता है। इसमें योग के आठ अंगों का विवेचन है। जिनका परिपालन करके मानव जीवन के चरम लक्ष्य कैवल्य (मोक्ष) को प्राप्त किया जा सकता है। इन आठ अंगों के नाम हैं[1]। (१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधि। वैदिक साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद माना जाता है। उसके अनेक मंडलों में 'योग' शब्द का उल्लेख हुआ है। यहाँ पर योग जोड़ने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[2]। ऋग्वेद के पश्चात उपनिषदों में योग के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। जहां कठोपनिषद् तैतिरीयोपनिषद्, छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि में आत्म साक्षात्कार और समाधि के अर्थ में योग, ध्यान और तप शब्द का प्रयोग मिलता है। वहीं अर्वाचीन उपनिषदों में योग के विविध अंगों का भी वर्णन मिलता है। गीता में योग के तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं। कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। इसके अलावा योग प्रक्रिया और उसके सिद्धान्तों का विवेचन भी किया गया है।

(१०) पा० योग सूत्र–२/१

(११) सुरेन्द्रदास गुप्ता भा०द० भाग-१, पृ० २३४

बौद्ध-श्रमण योग परम्परा:—

बौद्ध साहित्य में योग के स्थान पर "ध्यान" और "समाधि" शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। विसुद्धिमग्ग में शील व समाधि का विवेचन उपलब्ध है। बौद्ध दर्शन में ध्यान की प्रक्रिया को समाधि कहा गया है। अतः यहां योग का अर्थ समाधि है। शील के द्वारा अकुशल कर्म दूर हो जाते हैं और समाधि अवस्था में कुशल कर्मों की ओर चित्त एकाग्र हो जाता है। चित्त के एकाग्र हो जाने से तृष्णा और वासनायें नष्ट हो जाती हैं। समाधि दो प्रकार की होती है-उपचार समाधि और अप्पना समाधि। उपचार समाधि में चित्त एकाग्र हो जाता है और अप्पना समाधि में चित्त को अत्यधिक शुद्ध बनाने की प्रक्रिया होती है। इस प्रकार क्रमशः प्रज्ञा उत्पन्न होने पर अर्हत् अवस्था प्राप्त हो जाती है। उसके बाद स्कंधों, पुनर्जन्म, दुःख तथा पीड़ा से अत्यधिक निवृत्ति हो जाती है।

महात्मा बुद्ध ने निर्वाण प्राप्ति के लिये जिस अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया, उसमें आठवें अंग समाधि का विशेष महत्व बताया गया है [12]। इस 'सम्यक् समाधि' को प्राप्त करने के लिये चार प्रकार के ध्यान का भी वर्णन है।

आगे अष्टांग के वर्णन में शील समाधि और प्रज्ञा के उल्लेख प्राप्त होते हैं [13]।

बौद्धों द्वारा स्वीकृत शील में पतंजलि सम्मत यम-नियम का समावेश हो जाता है। बौद्ध समाधि में योग सूत्र द्वारा वर्णित प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का समावेश हो जाता है। बौद्ध परम्परा द्वारा मान्य "प्रज्ञा" और योगसूत्र में वर्णित "विवेकख्याति" में पर्याप्त अर्थ साम्य है। इस प्रकार बौद्ध साहित्य में वर्णित योग अन्य परम्पराओं से कहीं शब्द से, कहीं अर्थ से और कहीं प्रक्रिया से साम्य रखता है। बौद्ध दर्शन में योगाचार नामक प्रमुख सम्प्रदाय का वर्णन भी उपलब्ध होता है, जिसके प्रवर्तक वसुबन्धु माने गये हैं।

(१२) संयुक्त निकाय-५/१०

(१३) "विसुद्धिमग्ग" १/१६/२५, ३/२/३, १४/२/३,

जैन :—

भगवान महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक मौन रहकर घोर तप, ध्यान और आत्म चिन्तन के द्वारा योग साधना का ही जीवन बिताया था। जैनागमों में वर्णित साध्वाचार पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति, बारह प्रकार का तप, चार प्रकार का ध्यान आदि जो योग के मुख्य अंग हैं, उन्हें साधु जीवन श्रमण-साधना का प्राण माना गया हैं। जैन दर्शन में योग साधना के अर्थ में "ध्यान" शब्द का प्रयोग हुआ है। आचार्य उमा स्वामी ने "ध्यान" का लक्षण किया है' उत्तम संहननस्यैकाग्र चिंता निरोधि ध्यानमन्त मुंहूर्तात्. अर्थात किसी एक विषय में चित्त का निरोध (रोकना) ध्यान है। यह उत्तम संहनन वाले व्यक्ति के केवल अन्तर्मुहूर्त तक हो सकता है। आचार्य ने इसके चार भेद किये हैं-(१) आर्त (२) रौद्र (३) धर्म (४) शुक्ल। इसके प्रथम दो आर्त ध्यान एवं रौद्र ध्यान ससार के कारण है तथा अंतिम दो धर्म ध्यान तथा शुक्ल-ध्यान मोक्ष के कारण है [1]। इस ध्यान का पातंजल चित्तवृत्ति निरोध एव समाधि से सामंजस्य बैठता प्रतीत होता है।

आचार्य बुद्धघोष की योग साधना का भारतीय योग साधना में स्थान:—

योग शब्द से आशय प्रत्येक क्षेत्र में बोधचित्त होना ही बौद्ध परम्परा का प्राणभूत तत्व है। इसमें मन के संतुलन को हम "योगः कर्मसु कौशलम्" कह सकते हैं। बौद्ध परम्परा में योग साधना के यत्र–तत्र संकेत प्राप्त होते हैं। यहां मूल रूप में हठयोग का परित्याग है। यद्यपि यह पूर्णतया क्रमिक विकसित रूप में परवर्तीकाल में ही प्रकाश में आया। विद्वानों की इस मत में पूर्ण आस्था नहीं है कि महात्मा बुद्ध पातंजल योग दर्शन से ही प्रभावित थे। क्योंकि पतंजलि को "बुद्ध" के परवर्ती ही माना गया है तथापि इतना सभी स्वीकार करते है कि बुद्ध के समय के पूर्व भी योग साधना का विकास हो चुका था। भले ही यह पातंजल योग दर्शन के रूप में उपलब्ध न हो। क्योंकि बुद्ध वचनों में अनेक स्थलों पर हमें विचार साम्य, विधि साम्य, वाजि साम्य प्राप्त होते हैं इसलिये भगवान बुद्ध योग प्रधान थे।

आचार्य बुद्धघोष बौद्ध दार्शनिकों एवं ग्रन्थकारों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। स्थविरवाद के मूल सिद्धान्तों को अक्षुण्ण बनाये रखने और पालि साहित्य की श्री वृद्धि के लिये उन्होंने जो कार्य किया, वह स्थविरवादी जगत तथा

---

(१) तत्वार्थ सूत्र ९/२७, ९/२९

(२) जैन योग परिशीलन पृ०- ६४

पालि साहित्य का जीवन वर्धक बन गया । उन्होंने त्रिपिटक साहित्य की विस्तृत रूप से व्याख्या कर वास्तविक भाव को लुप्त होने से बचा लिया । यदि आचार्य बुद्धघोष ने अट्ठकथा ग्रन्थों को लिखकर गूढ़ अर्थों एवं भावों की व्याख्या न की होती तो त्रिपिटक ग्रन्थों का समझना सरल न होता । आचार्य बुद्धघोष के समान अन्य कोई भाष्यकार भी नहीं हुआ है । पालि साहित्य के ग्रन्थ निर्माताओं में त्रिपिटक वाङ्मय के पश्चात् महान् पालि ग्रन्थ निर्माता आचार्य बुद्धघोष ही हुये हैं । उन्होंने अट्ठकथाओं में जिन दार्शनिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक विषयों का विवेचनात्मक वर्णन किया है, उससे उनका पाण्डित्य पूर्णरूप से सामने आता है ।

विशुद्धिमार्ग नामक ग्रन्थ में आचार्य बुद्धघोष ने बौद्ध दर्शन की विवेचनात्मक गवेषणा के साथ योगाभ्यास की प्रारंभिक अवस्था से लेकर सिद्धि तक की सारी विधिया सुन्दर ढ़ंग से समझाई हैं । इस ग्रन्थ में बौद्ध धर्म का कोई भी ऐसा अंग नहीं है, जो अछूता हो । इस प्रकार से इसे बौद्ध धर्म का विश्वकोश कहा जा सकता है । विशुद्धिमार्ग प्रधानतः योग ग्रन्थ है । योगियों के लिये तो यह गुरू के समान निर्देश करने वाला महोपकारी ग्रन्थ है ।

पतंजलि आदि दर्शन ग्रन्थों का ज्ञान बुद्धघोष को था । उन्होंने अटठकथा में उनके मतों पर अच्छा प्रकाश डाला है । अणिमा, लघिमा का उल्लेख तो साधारण बात है । रामायण तथा महाभारत का बुद्धघोष ने जहां वर्णन किया है, वहां उससे अधिक वे लिख नहीं सकते थे । वहां उनके कथन का भाव केवल इतना ही है कि रामायण तथा महाभारत की कथायें आसक्ति की ओर ले जाने वाली है, उनमें अहिंसा के स्थान पर हिंसा और वैराग्य के स्थान पर भोग-विलास का वर्णन अधिक है । अतः भिक्षुओं को उनके श्रवण, अवलोकन से वंचित रहना उत्तम है । जो भिक्षु घरबार छोड़कर अनासक्ति पथ पर चल रहे हैं, उनके लिये बुद्धघोष का कथन अनुकूल ही है और केवल इतने से ही नहीं कहा जा सकता कि उन्हें रामायण, या महाभारत का ज्ञान नहीं था ।

वेद सब सत्य-विद्याओं की पुस्तक है

स्व० डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
पूर्व कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

वेद-विषयक हमने जो लेख लिखे हैं, उनका मुख्य-लक्ष्य आर्यसमाज के तीसरे नियम को समझने का यत्न करना है। आर्यसमाज का तीसरा नियम है कि वेद सब 'सत्य'-विद्याओं की पुस्तक है'। इस नियम को समझने के लिये ऋग्वेद का अदिति' शब्द बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। यह एक अद्भुत शब्द है। 'अदिति' के लिये ऋग्वेद (१.८९.१०) में निम्न मंत्र है-

अदितिः द्यौः अदितिः अन्तरिक्षं अदितिः माता सः पिता सः पुत्रः।
विश्वेदेवाः अदितिः जनाः अदितिः जातं अदितिः अ देतिः जनित्वम् ॥

इस मंत्र का अर्थ यह है कि संसार में जो-कुछ है, वह 'अदिति' है। 'अदिति'-शब्द 'दिति' से बना है। जो 'दिति' न हो वह 'अदिति' होगा। 'दिति'-शब्द 'दोः अवखंडने धातु से बना है। 'दिति' का अर्थ है-खंडित 'अदिति' का अर्थ हुआ-'अखडित'। खडित का अर्थ है-एक से दो, दो से तीन, तीन से चार इस प्रकार बटते जाना, अखंडित का अर्थ है-सदा-सर्वदा एक बने रहना, टुकड़ों में न बंटना। जितना भौतिक-ज्ञान है, जिसे हम विज्ञान' कहते हैं, वह सब 'दिति' के भीतर समा जाता है क्योंकि वह कभी सत्य माना जाता है, कभी गवेषणा करते-करते असत्य हो जाता है और छोड़ दिया जाता है। अगर सब कुछ 'अदिति' है जो जात या जनित्व है वह सब 'अदिति' है तो वेद भी 'अदिति' है; सत्य भी 'अदिति' है; वेद-ज्ञान भी 'अदिति' है। वेद-ज्ञान को 'अदिति' कहने का अर्थ हुआ 'अखंडित'-ज्ञान, ऐसा ज्ञान जो सदा- सर्वदा एक बना रहता है; कभी बदलता नहीं-सदा सत्य, सनातन। इसी 'अदिति'-शब्द के लिये ऋग्वेद (८.१८.६) में दो अन्य शब्दों का प्रयोग हुआ है। जिससे हमारा विषय अधिक स्पष्ट हो जाता है। वह मन्त्र है-

अदितिर्नो दिवा पशुं अदितिर्नक्त अद्वया।
अदितिः पात्वंहसः सदावृधा ॥

इस मंत्र में अदिति के लिये 'अद्वय' तथा 'सदावृध' शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'अद्वय' का अर्थ है-जो दो न हो, 'सदावृध' को पदच्छेद करके इसके दो अर्थ हो जाते हैं-'सदावृध'-अर्थात्. जो सदा बढ़ता रहे, विकसित होता रहे, एक से दो,दो से तीन, तीन से चार होता रहे, बटता रहे। इसका दूसरा अर्थ है-सद अवृध, जो सदा एक रहे, एक से दो, दो से तीन न हो, नित्य-सनातन, एक रूप में बना रहे। इस प्रकार वेद ने ज्ञान को तीन भागों में विभक्त किया है-'अदिति', 'सदावृध' तथा 'सदा-अवृध'। 'अदिति' वह ज्ञान है जो सदा एक रहता है, उसमें दो पक्ष नहीं हो सकते। 'सदावृध' वह ज्ञान है जो सदा बढ़ता रहता है, बदलता रहता है, आज यह और कल वह, बढ़ेगा तो बदल कर ही तो बढ़ेगा। यह वह ज्ञान है जिसे हम आज की भाषा में 'विज्ञान' कहते हैं। यह सदा अवृध वह ज्ञान है जिसे हम पहले 'अदिति' कह आये हैं-सत्य ज्ञान, अखंडित-ज्ञान, एक ज्ञान, न बदलने वाला ज्ञान या जिसे हम ईश्वरीय-ज्ञान कहते हैं। भौतिक ज्ञान सदा बढ़ता रहता है, 'सदावृध' रहता है, बदलता रहता है, यह भौतिक विज्ञान है, इसको गुरु-शिष्य- परम्परा द्वारा आदान-प्रदान हो सकता है या मनुष्य द्वारा आविष्कार हो सकता है, आध्यात्मिक-ज्ञान सदा एक रहता है, 'अदिति' या 'अद्वय' है; सदा-सनातन है; इसका आविष्कार नहीं हो सकता, यह सदा दिया जाता है। संसार में सदा एक रहने वाली अगर कोई वस्तु है तो वह 'सत्य' है, 'सत्य' ज्ञान है। 'सत्य' सदा एक रहता है, अखंडित रहता है; वेद के शब्दों में कहें तो सत्य सदा 'अद्वय' है, 'अदिति' है। यह नहीं हो सकता कि किसी बात के लिये हम कहें कि वह भी ठीक है और उसकी विरोधी बात भी ठीक है। सत्य सदा 'अद्वय' होता है। उदाहरणार्थ हिन्दू हो, ईसाई हो, मुसलमान हो, यहूदी हो, पारसी हो-सभी कहेंगे कि सत्य बोलना चाहिये, कोई नहीं कहेगा कि सच भी बोल सकते हैं और झूठ भी बोल सकते. हैं। सब कहेंगे कि प्रेम करना चाहिये, कोई नहीं कहेगा कि प्रेम भी करो, द्वेष भी करो। सब कहेंगे कि परोपकार करना उचित है, कोई नहीं कहेगा कि परोपकार भी करो, पर-अपकार भी करो। ये तथा इस प्रकार के अनेक ऐसे आधार भूत तत्व हैं जिन्हें 'अद्वय'-अर्थात्

उनमें दो पक्ष नहीं हो सकते-ऐसा सब कोई कहते हैं। अगर 'अदिति' का अभिप्राय 'अद्वय' है तो वेद ने इस शब्द को उक्त मंत्र में 'सदावृध-शब्द के साथ (जिसका अर्थ है-सदा बर्धमान, सदा बदलने वाला) क्यों रखा ? वर्धमान' तो वह तत्व है जो सदा बढ़ता रहता है। छोटे से बड़ा, बड़े से बहुत-बड़ा हो जाता या हो सकता है। आज जैसा है कल वैसा नहीं है अर्थात् पहले जैसा नहीं है। जो चीज या जो विचार बदलता रहेगा, वही तो बढ़ेगा। वेद में एक-साथ 'अद्वय' तथा 'वर्धमान' को जोड़ देना एक रहस्य की बात है। इस रहस्य को खोलने का कुछ प्रयत्न हम पहले कर चुके है, कुछ अब प्रयत्न करेंगे। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में 'विद्या' तथा 'अविद्या'-इन दो शब्दों का उल्लेख करते हुए लिखा है :-

अन्यदाहुः विद्यया, अन्यदाहुः अविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद् व्याचचक्षिरे ॥
विद्यां च अविद्यां च यस्तद् वेद उभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाममृत अश्नुते ॥

वेद के ये दोनों मंत्र विलक्षण हैं। इनमें से पहले का अर्थ तो स्पष्ट है। प्रायः अक्षर-ज्ञान तथा पढ़ने-लिखने को हम 'विद्या' कहते हैं। वेद का कहना है कि 'विद्या' तथा 'अविद्या' के ये अर्थ नहीं हैं। इतना ही नहीं, इन शब्दों के यथार्थ-अर्थ बतलाते हुए वेद का कहना है कि 'अविद्या'-रूपी-विद्या से मनुष्य मृत्युंजय बन जाता है, मृत्यु को जीत लेता है, परन्तु 'विद्या'-रूपी-विद्या से तो वह अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। वेद की यह विलक्षण घोषणा है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक तथा लौकिक शब्दावली में जमीन-आसमान का अन्तर है। उक्त घोषणा से स्पष्ट है कि वेद यहां भौतिकवाद तथा भौतिक-विज्ञान को 'अविद्या' कह रहा है क्योंकि औषधि आदि तथा उसी प्रकार के भौतिक साधनों से जीवन को दीर्घ किया जा सकता है, मृत्यु से लड़ा जा सकता है, मृत्यु-समुद्र को तरा जा सकता है। किन्तु अमरत्व तो सिर्फ अध्यात्मवाद तथा अध्यात्मविज्ञान से ही प्राप्त होता या हो सकता है। तभी कहा-'अविद्या' मृत्युं तीर्त्वा, और आगे कहा- 'विद्यया अमृत मश्नुते'।

यह ठीक है कि हमारा ज्ञान, ज्ञान तभी कहला सकता है जब वह 'वर्धमान' हो आगे-आगे बढ़े। आज का वैज्ञानिक-जगत् इसीलिये श्रेयस्कर माना जाता है क्योंकि आज जो बात ठीक मानी जाती है, कल वही परीक्षण तथा खोज करते-करते गलत मानकर छोड़ दी जाती है। अगर विज्ञान रुक जाय, किसी जगह आकर खड़ा हो जाय, तो वह फेंक देने लायक होगा। परन्तु हमारी यह बात सिर्फ भौतिक-विज्ञान पर ही लागू होती है, आध्यात्मिक-विज्ञान पर नहीं। आध्यात्मिक तत्व सदा 'अद्वय', 'वर्धमान' होता हुआ भी 'अवर्धमान' होता है। 'हिंसा' से शुरू कर मनुष्य 'अहिंसा' पर आकर रुक जाता है, 'असत्य' से शुरु कर 'सत्य' की खोज में भटकता है, चोरी-डाके-'स्तेय' से चलता-चलता शान्ति-सन्तोष 'अस्तेय' को जीवन का लक्ष्य बनाता है, पर-दारा-गमन या अब्रह्मचर्य और दुराचार में भटकता-भटकता 'ब्रह्मचर्य' तथा 'सदाचार' को परम-ध्येय समझने लगता है। भौतिक-तत्व जबतक 'वर्धमान' तक सीमित रहते हैं, तबतक जीवन अपने ध्येय को नहीं पकड़ता। जब जीवन के 'वर्धमान'-तत्व 'अवर्धमान' हो जाते हैं, जब वे हिंसा से अहिंसा, असत्य से सत्य, स्तेय से अस्तेय, अब्रह्मचर्य से ब्रह्मचर्य, परिग्रह से अपरिग्रह तक पहुंच जाते हैं, तब मनुष्य 'अद्वय' 'अदिति, 'अवर्धमान', एक-नित्य-सनातन को पा लेता है। इसी 'अद्वय' 'अदिति', 'अखण्डित' सत्य का वर्णन वेद में है। हमारे कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि वेद में सिर्फ अध्यात्मवाद का वर्णन है भौतिकवाद या विज्ञान का वर्णन नहीं है। भौतिक ज्ञान जब बढ़ेगा, तो बढ़ते-बढ़ते उसकी सीमा भी कभी-न-कभी आयेगी। वृक्ष ऊंचा जाता है, परन्तु कहीं तो बढ़ना रुक जाता है। 'वर्धमान' जब 'अवर्धमान' हो जाता है, तब वही अद्वय' हो जाता है, 'अदिति' हो जाता है। भौतिकवाद जब रुक जाता है और जहां रुक जाता है, तब और वहां अध्यात्मवाद शुरु हो जाता है। इसीको ऋग्वेद में 'अद्वय' 'अदिति' या 'सदावृध' से 'सदा-अवृध' कहा है। जैसा हम पहले लिख आये हैं, ज्ञान या तो 'वर्धमान' होगा या 'अवर्धमान' होगा। 'वर्धमान' ज्ञान भौतिक है, समय-समय पर मनुष्य की खोज के आधार पर बना रहता है, बढ़ता रहता है। 'अवर्धमान ज्ञान आध्यात्मिक है, नित्य है, सनातन है, एक है, अद्वय है, अदिति है बदलता नहीं। क्योंकि वेद का ज्ञान मनुष्य की खोज नहीं, ईश्वरीय देन है। इसलिये वेद ने उसे 'अद्वय' तथा

'अदिति' कहा है। परन्तु ज्ञान का स्रोत मनुष्य तथा परमेश्वर दोनों हैं-इसलिये ज्ञान को वेद में 'सदावृध' कहा है। 'सदावृध' के हमने दो अर्थ किये हैं। जब मनुष्य द्वारा खोज किये ज्ञान के लिये इस शब्द का प्रयोग होता है, तब इसका अर्थ सदा सर्वथा उत्तरोत्तर बढ़ने वाला, बदलनेवाला अर्थ होता है। जब इस शब्द का प्रयोग ईश्वरीय ज्ञान के लिये होता है, तब इसका अर्थ सदा 'अवृध', सदा एक रहने वाला, कभी भी न बदलने वाला, 'अद्वय', 'अदिति', 'अवर्धमान' अर्थ होता है। जैसे 'विद्या' तथा 'अविद्या' वेद के विलक्षण शब्द है, वैसे 'सदावृध' भी वेद का विलक्षण शब्द है जो सदावृध' के रूप में भौतिकविज्ञान के लिये प्रयुक्त हुआ है और 'सदा-अवृध' के रूप में ईश्वरीय-ज्ञान या वेद के लिये प्रयुक्त हुआ है।

मुंडकोपनिषद् में इसी बात की चर्चा करते हुए कहा है: 'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा च अपरा च'। 'परा' क्या है? 'यया तदक्षरं अधिगम्यते सा परा-अर्थात्, जिस विद्या से अक्षर-ब्रह्म का ज्ञान होता है वह 'परा-विद्या' है, अर्थात् 'आध्यात्मिक-विद्या'। इस कथन से स्पष्ट है कि जिस विद्या से क्षर-प्रकृति के विषयों का ज्ञान होता है, वह 'अपरा-विद्या' है अर्थात् 'भौतिक-विद्या'। यजुर्वेद के १९ वें अध्याय के ७७ वें मन्त्र में इसी भाव को 'सत्य' तथा 'अनृत'-इन शब्दों से व्यक्त किया गया है। वहां कहा है: दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः अश्रद्धां अनृते अदधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः'-संसार की सब वस्तुओं को देखकर प्रजापति ने उन्हें दो भागों में विभक्त कर दिया-सत्य' तथा 'अनृत'। 'सत्य' में सब को स्वाभाविक रूप में श्रद्धा होती है। 'अनृत' में सब को स्वाभाविक रूप में अश्रद्धा होती है। उक्त विवरण से स्पष्ट है कि वेद में 'विद्या' 'सत्य' तथा 'परा' का एक रूप बनाया है तथा 'अविद्या' 'अनृत' एवं 'अपरा' का दूसरा रूप बनाया है। यजुर्वेद में 'विद्या' तथा 'अविद्या'-इन दोनों की महिमा का बखान है-'अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा-'अविद्या से मृत्यु को तरा जाता है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक

टर्मिनोलोजी में 'अविद्या' का अर्थ निरक्षरता या अज्ञान नहीं है। तो फिर वेद में 'अविद्या' का अर्थ क्या है ? हमारी दृष्टि में वेद में 'अविद्या' का अर्थ भौतिकवाद या भौतिक-विज्ञान है। भौतिक-अविष्कारों से मनुष्य संसार की सब सुख-सुविधाओं को भोगता हुआ, यन्त्रों तथा औषधियों के आविष्कारों से दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन की प्राप्ति कर सकता है जिसे वेद ने 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' कहा है। हमारा कथन है कि वेद में भौतिकवाद या वर्तमान-विज्ञान को वह उच्च स्थान नहीं दिया गया जो अध्यात्मवाद को दिया गया है। भौतिक-ज्ञान दिनोदिन बदलता रहता है, 'वर्धमान' है, इसलिये वेद ने उसे 'अविद्या', 'असत्य' तथा 'अपरा' विद्या कहा है। आध्यात्मिक-ज्ञान सदा एक रहता है, 'अवर्धमान' है, इसलिये वेद ने उसे 'विद्या', 'सत्य' तथा 'परा विद्या' कहा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वेदों में भौतिक-विज्ञान का सर्वथा अभाव है। वेदों में भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों विद्यायें हैं, परन्तु मुख्यता आध्यात्मिक विद्या की है क्योंकि वही सत्य है, सनातन है, सब देश-काल में एक ही बनी रहती है।

हमारा मुख्य कथन यह है कि वेदों का मुख्य-विषय अध्यात्मवाद है भौतिकवाद या भौतिक विषयों का वेदों में गौण रुप से वर्णन आता है, इसीलिये वेदों में दो विद्याओं का उल्लेख पाया जाता है-'द्वे विद्ये वेदितव्ये'-दो विद्याओं को जानना चाहिये-'विद्या' तथा 'अविद्या', 'सत्य' तथा 'अनृत' 'परा' तथा 'अपरा'। जो-कुछ हम लिख रहे हैं, यह बात ऋग्वेद (१.१६४.१३९) तथा अथर्ववेद (९.१०.१८) के निम्न मन्त्र से और अधिक स्पष्ट हो जाती है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा: अधिविश्वे निषेदु: ।

य: तत् न वेद किं ऋचा करिष्यति य इत् तत् विदु. त इमे समासते ॥

ऋचाओं का स्थान परम-अक्षर परमात्म-देव में है अर्थात् ऋचाओं में वर्णन परम-ब्रह्म परमात्म देव का है और उसी अध्यात्म का वर्णन अन्य देवताओं के रुप में किया गया है। जो इस रहस्य को नहीं जानता वह वेद की ऋचाओं से क्या पा सकेगा ? जो यह जानता है कि वेद में अध्यात्म-विद्या है, वह वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।

गत विवरण में हम लिख आये है कि वेद में उदाहरण रूप मे भौतिक विज्ञान का उल्लेख है। ऐसे स्थान हैं जिनसे सिद्ध होता है कि पृथिवी गोल हैन्इमं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या' इसी प्रकार यजुर्वेद (३ ६) में लिखा है कि पृथिवी सूर्य के गिर्द चक्र काटती है तथा यजुर्वेद (३३.४३) से ज्ञात होता है कि लोक-लोकान्तर आकर्षण शक्ति से परस्पर बंधे हैं, परन्तु इन मंत्रों का आध्यात्मिक अर्थ करना ही उचित है। इन मंत्रों का अर्थ यह है कि भक्त भगवान की तरफ खिचा-खिचा उस से आकर्षित होकर उसी के गिर्द ऐसे चक्कर काटता है जैसे पृथिवी सूर्य के गिर्द चक्कर काटती है। इसी भावना को मूल में रखते हुए हम वेद को ईश्वर-प्रदत्त मानते हैं।

मेरी इस लेख-माला में कई बातों को जगह-जगह दोहराने का कारण विषय को अधिकाधिक स्पष्ट करना है। इस लेख-माला से किसी को भ्रान्ति न हो इसलिये इस लेख-माला के मुख्य मुद्दों को लिखकर मैं इसे समाप्त कर रहा हूं। इस लेख माला में मैंने जो विचार रखा है, उसमें कुछ नवीनता है। इसलिये इतने विस्तार से लिखना पड़ा और किसी को कोई भ्रान्ति न हो इसलिये निम्न बिन्दु दोहरा रहा हूं :-

(क) इस लेख-माला में हमने जो दिशा अपनायी है उससे स्पष्ट है कि वेद सब सत्य-विद्याओं का पुस्तक है जिसके निम्न कारण हैं:

(ख) वेद ने विद्या के दो भाग किये है-'परा-विद्या' तथा 'अपरा विद्या'। 'द्वे विद्ये वेदित व्ये परा च अपरा च'। 'परा-विद्या' वह है जो सांसारिक-विद्या नहीं है, भौतिक-विज्ञान' से परे है। 'अपरा-विद्या' वह है जो इधर की, संसार की विद्या है, पदार्थ विज्ञान या भौतिक-विज्ञान। इस प्रकार वेद ने 'अपरा' या सांसारिक-विद्या को भी विद्या का नाम दिया है।

(ग) 'परा' तथा 'अपरा' की तरह वेद में दो अन्य शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं जिनका प्रकृत-विषय के साथ सम्बन्ध है। वे शब्द हैं-'अविद्या' तथा 'विद्या'। वेद की शब्दावली में 'अविद्या' का अर्थ अज्ञानता या निरक्षरता नहीं है। यजुर्वेद में लिखा है—'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतमश्नुते'-अविद्या से मृत्यु को तर कर विद्या से अमृत प्राप्त होता है। इस कथन से स्पष्ट है कि वेद की शब्दावली में 'अविद्या' का अर्थ भौतिकवाद या वर्तमान-विज्ञान है और विद्या' का अर्थ अध्यात्मवाद है, क्योंकि वर्तमान-'विज्ञान के भौतिक-साधनों से दीघ-जीवन प्राप्त होता है। औषधि आदि के द्वारा रोगों पर विजय प्राप्त की जा सकती है, मृत्यु-रूप सागर को तरा जा सकता है, परन्तु अमरता तो अध्यात्मवाद से ही प्राप्त हो सकती है। इस कथन से स्पष्ट है कि वेद में 'परा'-विद्या से अध्यात्मवाद तथा 'अपरा'-विद्या से भौतिकवाद अभिप्रेत है।

(घ) जैसे वेद ने ज्ञान के 'परा'-विद्या तथा 'अपरा'-विद्या-ये दो भाग किये हैं, वैसे ही यजुर्वेद ने इन्हीं भावों को प्रकट करने के लिये दो अन्य शब्दों का प्रयोग किया है-वे हैं 'सत्य' तथा 'अनृत'। 'अनृत'-शब्द का अर्थ है-जो ऋत न हो ऋत का अर्थ है-'सत्य'। 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसो ऽध्यजायत-इस मंत्र में 'ऋत' और 'सत्य' का एक-साथ प्रयोग किया गया है। यजुर्वेद के जिस मंत्र का हमने निर्देश किया है वह है, 'दृष्ट्वा रुपे व्याकरोत् सत्यानृते' प्रजापतिः। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'परा'—'विद्या'-'सत्य'-इन तीन एकार्थक शब्दों का एक ग्रुप है, 'अपरा'-'अविद्या'-अनृत'-इन तीन एकार्थक शब्दों का दूसरा ग्रुप है। इसी तरह इस लेख-माला से स्पष्ट है कि 'परा'-'विद्या'-'सत्य'-ये एकार्थक-शब्द अध्यात्मवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं 'अपरा'-'अविद्या'-'अनृत'- ये तीनों एकार्थक शब्द भौतिकवाद या भौतिक-विज्ञानों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अध्यात्मवाद नित्य है, सनातन है, सत्य है, अपरिवर्तनशील है. स्थिर है। भौतिकवाद जिसकी उपज भौतिक-विद्यायें हैं, अनित्य हैं, बदलता रहता है, वेद की परिभाषा में अनृत है, परिवर्तनशील है अस्थिर है।

इसी विचारधारा के आधार पर हम कहते हैं, "वेद सब सत्य-विद्याओं का पुस्तक है"। भौतिक-विज्ञान बदल सकता है, अध्यात्म-विज्ञान बदल नहीं सकता क्योंकि वह 'सत्य' है।

स्वामी श्रद्धानन्द (महात्मा मुन्शीराम) तथा श्री गोपाल कृष्ण गोखले का पत्र व्यवहार

प्रस्तुतकर्ता – डा० भवानीलाल भारतीय
नन्दन वन जोधपुर, (राजस्थान)

पत्र संख्या—१

भारत सेवक सोसाइटी पूना सिटी
७ अगस्त १६११

मेरे प्रिय लालाजी,

आपके ३१ जुलाई के अत्यन्त उदार पत्र क लिये बहुत धन्यवाद । मुझे यह कहते हुए खेद होता है कि मेरी पुत्री का स्वास्थ्य, जो कुछ दिनों से सुधार की ओर था, पुनः खराब हो गया है और इसी कारण हमारी चिन्ता भी बढ़ गई है। आज उसके ज्वर का २२वां दिन है और ज्वर मुक्त होने की निकट भविष्य में कोई आशा भी नहीं दिखाई देती। तथापि यही मानना होगा कि ये बातें हमसे अधिक शक्तिशाली (ईश्वर) के हाथ में हैं। हम अपनी ओर से अच्छे से अच्छा इलाज कर रहे हैं और अच्छा होने की ही आशा करते हैं, और यही एक व्यक्ति कर भी सकता है।

मैं ६ सितम्बर को शिमला में रहूंगा, यदि इस बीच सब कुछ ठीक रहा। आपके द्वारा प्रदर्शित सहानुभूति के लिये पुनः धन्यवाद तथा आदर सहित।

आपका
गो० कृ० गोखले

पत्र संख्या—२

भारत सेवक सोसाइटी,
पूना सिटी
२१ अगस्त १६११

मेरे प्रिय लालाजी,

वायसराय ने निश्चय किया है कि शिमला में कोई प्रस्ताव पेश न

किया जाय। वहां जो बिल पेश किये जायेंगे, वे बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं और अन्य प्रस्ताव रखने की अनुमति भी नहीं है। अतः गैर सरकारी सदस्यों का कौंसिल की केवल औपचारिक बैठक में शामिल होने के लिये वहां जाना व्यर्थ ही है। अतः आगामी मास शिमला जाने के विचार को मैंने छोड़ दिया है। यह खेद का विषय है कि इस प्रकार आपसे भेंट करने के आनन्द से मैं वंचित रहूंगा, किन्तु इसके अलावा कोई चारा भी नहीं है।

आपको यह सूचित करते हुए मुझे प्रसन्नता है कि मेरी पुत्री का स्वास्थ्य निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर है। अतः मैं अपने प्रारम्भिक शिक्षा विधेयक के काम को, जो बीच में रुक गया था, पुनः हाथ में लेने की सोच रहा हूं। कल मैं बंगाल के लिये प्रस्थान करूंगा, जहां मेरे मित्रों ने लगभग १५ दिन का मेरा व्यस्त कार्यक्रम बना रखा है। सितम्बर के मध्य तक मैं पूना लौटने का विचार रखता हूं। लौटते समय मैं नागपुर तथा अमरावती भी ठहरूंगा। इस आशा के साथ कि आप सानन्द हैं।

आपका

गो० कृ० गोखले

वायसराय की कौंसिल की बैठक में सम्मलित होने के लिये श्री गोखले उपर्युक्त पत्र में निर्दिष्ट कारण वश नहीं गये। किन्तु उनका पत्र मिलने के पहले ही मैं शिमला के लिये रवाना हो चुका था। मैं वहां अनेक सचिवों और भारत सरकार के शिक्षा मंत्री से भी मिला। उनके वार्तालाप से तथा उनके व्यवहार से जो वे हिन्दू और मुसलमान विश्वविद्यालयों के प्रस्तावों के प्रति दिखा रहे थे, मैं जो कुछ जान पाया उससे मेरी पूर्व धारणा की पुष्टि ही हुई। मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि किसी व्यक्ति को अपने लक्ष्य की ओर सीधे सादे ढंग से बढ़ते रहने से ही सफलता प्राप्त होती है। यह आवश्यक नहीं है कि अपने कार्य के लिये वह दूसरों को सफाई देता फिरे। मैंने इस बात को लेकर श्री गोखले को एक लम्बा पत्र लिखा।

१९१२ के आरम्भ में वायसराय की कौंसिल के कलकत्ता सत्र में श्री गोखले का अनिवार्य शिक्षा विषयक विधेयक विचारार्थ आने वाला था। उन्होंने इसमें मुझे अपनी सहायता और सहयोग देने के लिये लिखा। मैंने उन्हें स्पष्ट रूप में लिखा कि प्रथम तो इस बात की आशा ही नही है कि सरकार शिक्षा के व्यापक प्रचार के लिये कोई सहायता देगी और यदि किसी प्रकार की सहायता दी भी गई तो वह पूर्णतया स्वार्थ-रहित नहीं होगी।

यदि आम जनता में निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा प्रचलित करने के लिये कोई राष्ट्रीय स्तर का आंदोलन चलाया जाता है, तो मैं इसमें अपना हार्दिक सहयोग तथा सक्रिय योगदान करूंगा, ऐसा वचन भी मैंने उन्हें दिया। श्री गोखले को अन्तिम पत्र लिखने के पश्चात् मुझे कलकत्ता बुलाया गया और मैंने उन्हें अपने आगमन की सूचना दी। दूसरे ही दिन आर्य समाज मन्दिर में वे मुझ से मिलने आये और मेरे कुछ कहने के पहले ही वे बोल पड़े-आप ठीक थे, मैं ही गलत था। ईश्वर ही जानता है कि लोगों के प्रति सरकार को सही ढंग से व्यवहार करने के लिये बाधित करने में मुझे कितना प्रयास करना पड़ता है और किसी भी साधारण बात के लिये, जिसको मैं अत्यधिक महत्त्व देता हूं, सरकार को कहा जाता है तो वह निःसंकोच उस मामले को दबा देती है। जहां तक मुझे स्मरण है, उन्होंने इन्हीं शब्दों को प्रयुक्त किया था। कलकत्ता में अपने कार्य के सम्बन्ध में मैंने उनसे विस्तृत वार्तालाप किया और उसके पश्चात् कुछ काल तक उनसे मुलाकात नहीं हो सकी। इसके बाद गोखले बीमार हो गये और जलवायु परिवर्तन के लिये उन्हें इंग्लैंड जाने की राय दी गई। उनके स्वास्थ्य में थोड़ा सुधार हुआ ही था और वे एक उपचार गृह में रह रहे थे, तभी एक सुपरिचित भारत विरोधी पत्रकार उनसे मिला तथा दिल्ली षड्यंत्र अभियोग के बारे में उन्हें बताया। उस बेरहम पत्रकार ने इस महान् भारतीय की मानसिक शान्ति की थोड़ी भी चिन्ता नहीं की और नितान्त रूखे ढंग से कहा—देखिये मि० गोखले, यह दूसरे षड्यंत्र को

मामला आगे आ रहा है। इससे आपके यहां के कार्य को भारी नुकसान पहुंचेगा और मुझे पक्का विश्वास है कि आपकी प्यारी संस्था गुरुकुल कांगड़ी की ही सबसे पहले तलाशी ली जायेगी। इससे श्री गोखले को गहरा धक्का लगा और वे पुनः बीमार हो गये। भारत लौटने वाले उनके एक मित्र ने उन्हें पुनः आश्वस्त किया।

श्री गोखले की बीमारी का कारण क्या था? यही प्रश्न था जो उनके देशवासियों को उस समय उत्तेजित कर रहा था, जब वे १९१३ के अन्त में इंग्लैण्ड के लिये प्रस्थित हुए थे। इसका उत्तर यह है कि महात्मा गांधी द्वारा दक्षिण अफ्रीका में चलाये जा रहे सत्याग्रह आन्दोलन को लेकर ही वे चिन्तित और अस्थिर थे। गोखले अत्यन्त भावुक प्रकृति के पुरुष थे। अपने देशवासियों के दक्षिण अफ्रीका में किये जाने वाले अपमान और तिरस्कार ने ही उनमें दिल की बीमारी के कीटाणुओं का प्रवेश करा दिया, जो अन्ततः उनकी मृत्यु का कारण बना। मैं यहां एक पत्र उद्धृत कर रहा हूं जो इसी तथ्य को बतलाता है।

पत्र संख्या—३

मेटकाफ हाउस,

दिल्ली

२७ नवम्बर, १९१३

मेरे प्रिय महात्माजी,

आपके १३ नवम्बर के पोस्टकार्ड के उत्तर में जो विलम्ब हुआ उसके लिये आप मुझे क्षमा करें। किन्तु आप मेरे प्रति सदा ही अत्यन्त उदार रहे हैं। मुझे आपके अनुग्रह पर पूरा विश्वास है। तथ्य यह है कि मुझे अपने दुर्बल स्वास्थ्य के उपरान्त भी अत्यधिक श्रम करना पड़ रहा है, अतः मुझे पत्र व्यवहार के लिये अधिक समय नहीं मिलता। मुझे आपके पुत्र श्री हरिश्चन्द्र से ज्ञात हुआ कि आप खुद

यहाँ आने वाले हैं। उस स्थिति में आपसे भेंट होगी ही और हम सम्पूर्ण स्थिति पर विचार करेंगे।

रे० एण्ड्रूज तथा पं० हरिश्चन्द्र दोनों ने ही मुझे बताया कि गुरुकुल के छात्र किस प्रकार दक्षिण अफ्रीकावासी भारतीयों के संघर्ष की सहायता के लिये अपने नाश्ते का दूध और भोजन के घी का परित्याग कर तथा साधारण श्रमिकों और कुलियों की भांति काम करके धन एकत्र कर रहे हैं। सच तो यह है कि उनको इस देश भक्ति के अत्यन्त मार्मिक कार्य के लिये धन्यवाद देने का अधिकारी भी मैं नहीं हूं। यह तो उनका भी उतना ही बड़ा कार्य है जितना आपका या मेरा, और वे अपने तरीके से अपनी मातृभूमि के प्रति स्वकर्तव्य का ही पालन कर रहे हैं। किन्तु वे देश के युवा और वृद्ध दोनों ही वर्गों के लोगों के लिये जो एक उच्च आदर्श उपस्थित कर रहे है, उसके प्रति अपना हार्दिक प्रशंसा भाव प्रकट किये बिना मैं नहीं रह सकता। यदि आप मेरी इस भावना को उन तक पहुंचायेंगे, तो मै आपका अत्यन्त कृतज्ञ होऊंगा।

आपने मुझे गुरुकुल आने का आग्रह अनेक बार किया है, किन्तु यह बड़े खेद का विषय है कि मैं अब तक ऐसा नहीं कर पाया। किन्तु यदि सब ठीक रहा, तो मैं १६१५ की जनवरी में वहां आने का प्रयत्न करूंगा। इस अन्तराल में आपकी समृद्धि की कामना के साथ,

आपका

मो० क० गांधी

वेद एवं भगवद्गीता का जीवात्म-चिन्तन

डा० दिनेशचन्द्र 'धर्ममार्तण्ड'

वेद विभाग, गु० का० विश्वविद्यालय (हरिद्वार)

वेद और गीता संस्कृत वाङ्मय की अमरकृतियाँ हैं। परवर्ती मानव और साहित्य इनसे सदा ही आप्लावित और अनुप्राणित रहा है। जहाँ वेद का ज्ञान परम-पिता परमात्मा ने मनुष्यमात्र के कल्याण के लिये सृष्टि के आदि में दिया, वहीं गीता का उपदेश भी योगिराज कृष्ण ने दिग्भ्रमित अर्जुन को युद्धभूमि में दिया। यह सुविदित है कि पार्थसारथि भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ने महाभारत-युद्ध भूमि कुरुक्षेत्र में धर्माधर्म के विषय में किंकर्त्तव्यविमूढ़ अपने जिज्ञासु भक्त पृथा-पुत्र के प्रति अनादि एवं अपौरुषेय वेदों का जो निष्कृष्टार्थ गान किया, [1] उसी का श्रीवेदव्यास द्वारा संगुम्फित स्वरूप 'श्रीमद् भगवद्गीता' है जिसका सात सौ श्लोकों का अष्टादशाध्यायात्मक आकार है। इन सात सौ श्लोकों मे से प्रथम अध्याय के सैंतालीस तथा द्वितीय अध्याय के दस, कुल सत्तावन श्लोक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सम्बन्ध रखते हैं, शेष छह सौ तैंतालीस श्लोक दार्शनिक भावों के सूक्ष्म विवेचन से सम्बद्ध हैं।

महर्षि मनु के अनुसार वेद 'सर्वज्ञानमय' [2] हैं। इनमें तृण से लेकर मोक्षपर्यन्त सभी पदार्थों का कहीं विस्तार से तो कहीं अल्प 'ओम' गच्छेम् तृणं स्पृशातिवत्' वर्णन हुआ है। आध्यात्मिकता से तो वेद अनुस्यूत हैं। इनमें दार्शनिक भावों का तो बड़े ही मार्मिक शब्दों में वर्णन किया गया है। जहां ईश्वर और प्रकृति की सत्ता का बखान

---

(१) क—गीता में उन्हीं सत्यों का प्रतिपादन किया गया है जो वेदों में पहले से ही विद्यमान हैं—ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ (गी० १३.४)

ख—गीता शास्त्र सम्पूर्ण वैदिक शिक्षाओं के तत्वार्थ का सार-संग्रह है—'समस्त वेदार्थसार संग्रहभूतम्।' द्र० गीता, शांकरभाष्य की भूमिका।

(२) मनु० २.७

किया, वहीं जीव की 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' कहकर उसकी सत्ता भी सिद्ध की है। डा० एस० राधाकृष्णन् के अनुसार वेदों में जीव की अमरता और मृत्यु के उपरान्त की स्थिति के विषय में दार्शनिक-चिन्तन अत्यल्प है।[1]

गीता के आविर्भाव के पश्चात् से ही तत्तत्कालीन भाष्यकार, सम्प्रदायाचार्य तथा उनके अनुयायी विद्वान् अपने-अपने दृष्टिकोण से इन दार्शनिक-भावों का सुविशद-विवेचन करते आ रहे हैं और सबने यत्र-तत्र यह स्वीकृत भी किया है कि गीता के दार्शनिक-भावों की आधार-शिला वेद ही है। किन्तु वेद और गीता के इन दार्शनिक-भावों का सोदाहरण प्रतिपादन करके दिखाने का प्रयास बहुत कम किया गया है, इसलिये हमारा यहां विवेच्य-विषय केवल वेद और गीता के आधार पर जीवात्म-चिन्तन का रहा है। इसमें हरसम्भव यह प्रयास किया गया है कि इन दोनों अमर ग्रन्थों के आधार पर जीवात्मा से सम्बन्धित सभी सिद्धान्तों का उद्‌घाटन बुद्धिपूर्वक किया जाये।

दार्शनिकों में जीवात्मा के विषय में मतैक्य नहीं है। उनमें जीव की विभुता, अणुता, चैतन्य और ज्ञानात्मकता को लेकर अनेक दृष्टिकोण पाये जाते हैं। आत्मा के साथ जब जीव शब्द जुड़ जाता है, तो उसका मौलिक स्वरुप ही बदल जाता है। आत्मा शब्द एक चेतन तत्व का बोधक है जो ईश्वर और पुरुष दोनों के लिए ही प्रयुक्त होता है। किन्तु जीव शब्द के साथ आत्मा का प्रयोग केवल पुरुष के लिए ही होता है।

संस्कृत भाषा के व्याकरण की प्रकृति एवं प्रक्रिया के अनुसार सततगमनवाची 'अत्' धातु से 'मनिण्' प्रत्यय करने पर 'आत्मा' शब्द सिद्ध होता है। जिसका अर्थ होता है—सतत गतिशील तथा सतत सर्वत्र व्याप्त। जीवात्मा अनादिकाल से एक देह से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में निरन्तर गति करता चला आ रहा है। इसलिए सतत गतिशील अर्थ जीवात्मा पर लागू होता है और जो सतत सर्वत्र व्यापक रहता है।

(१) डा० एस० राधाकृष्णन्, उपनिषदों का तत्वज्ञान, पृष्ठ १४

उसे परमात्मा कहते हैं। श्री वा० शि० आप्टे ने अपने 'संस्कृत-हिन्दी कोश' में आत्मा को जीव का पर्यायवाची माना है।[1]

इस पंचभौतिक शरीर का नियन्त्रणकर्त्ता (देहेऽस्मिन् पुरुषः-गी० १३/२२) कोई ऐसा तत्व इसमें निश्चित रुप से विद्यमान है जिसकी प्रेरणा से आंख देखती है, कान सुनते हैं, वाणी भाषण करती है। अभिप्राय यह कि शरीर की सम्पूर्ण गतिविधियां जिस पर आश्रित हैं, जिसके न रहने पर शरीर में जड़ता के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रह जाता, उस तत्व को वेदादिशास्त्रों में जीव अथवा जीवात्मा कहा गया है। जीवात्मा शरीर नहीं है किन्तु शरीर से अलग एक चेतन अभौतिक पदार्थ है जिसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व लक्षण पाये जाते हैं। शरीर इन लक्षणों के प्रकाश का केवल उपकरण मात्र है। ऋग्वेद १.१६४.३०. जीवो मृतस्य चरतिस्वधाभि स्मर्त्यो मर्त्येना स योनिः'[2] के अनुसार-जीव नाम से प्रसिद्ध तत्व शरीरादि से भिन्न सत्ता वाला है, शरीरादि के नष्ट हो जाने पर विनाश को प्राप्त नहीं होता। गीता में भी नाशवान् शरीर से व्यतिरिक्त (भिन्न) आत्मा को शरीरी कहा गया है।[3] ऋग्वेद के अनुसार यह अमरणधर्मा जीव, मरणधर्मा शरीर के साथ समानस्थान वाला होकर, धारण करने वाली अन्नादि शक्तियों द्वारा नश्वर शरीर के अन्दर विचरण करता है। 'अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतो ऽ मर्त्यो मर्त्येना स योनि' (ऋ १.१६४.३८) में इसी सिद्धान्त को संपुष्ट किया गया है कि प्रकृत्यादि पदार्थों के भोगो के द्वारा पकड़ा हुआ अमरणधर्मा जीव, मरणधर्मा शरीर के साथ समान स्थानवाला होकर विभिन्न योनियों को प्राप्त होता है। गीता के दूसरे अध्याय भी में सांख्य की दृष्टि से जीव (पुरुष) का वर्णन हुआ है। जैसे सांख्य दर्शन में 'प्रकृति' और 'पुरुष' (जीव) को

पृ० १४४

(२) (क) अनेन देहस्य असारता जीवस्य नित्यत्वं च प्रतिपाद्यते। (सायणभाष्य)

(ख) अमर्त्यः अनादित्वान्मृत्युधर्मरहितः, मर्त्येन मरणधर्मेण शरीरेण। (द.भा.)

(३) अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनो ऽ प्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ (२.१८)

अलग-अलग माना गया है, वैसे ही इस अध्याय मे 'देह' और 'देही' का, 'शरीर' तथा 'आत्मा' का अलग-अलग विवेचन किया गया है। श्रीकृष्ण ने ११ से ३० श्लोक तक दो सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है। पहला सिद्धान्त तो यह है कि 'आत्मा' अमर है, अविनाशी है; दूसरा सिद्धान्त यह है कि 'शरीर' मरणधर्मा है, विनाशी है। 'आत्मा' के अमरत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जैसे शरीर में बालपन, यौवन तथा जरा आती है, एक अवस्था बीतती है, दूसरी आ जाती है, वैसे ही आत्मा का एक शरीर छूटता है, दूसरा आ जाता है; जैसे पुराने कपड़े उतारकर हम नये पहन लेते हैं वैसे आत्मा पुराना शरीर छोड़कर नया धारण कर लेता है; उसे न शस्त्र छेद सकते हैं, न वायु सुखा सकती है; आत्मा अच्छेद्य है अदाह्य है, अक्लेद्य है, अशोष्य है। जो आत्मा इस प्रकार अमर है उसके लिए यह सोचकर कि यह मर जायेगा- इस प्रकार शोक करना कहां तक संगत हो सकता है? शरीर मरणधर्मा है, उसे कोई बचा नही सकता, आत्मा अमर है, उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता।

जीवात्मा स्वरुप से अल्पज्ञ और अल्प शक्ति है। एक मन्त्र में जीवात्मा को नित्य, चेतन, अल्प, अल्पज्ञ, अल्पदेशस्थ, शरीरादि का धारक तथा पाप और पुण्य के फलों का भोक्ता बतलाया गया है।[1] जीवात्मा चाहे जब तक और चाहे जितना अपना ज्ञान और सामर्थ्य बढाता जाये उसका ज्ञान परिमित और सामर्थ्य सीमित ही रहेगा। अपने सीमित साधनो के बल पर वह चाहे कितना ही पुरुषार्थ करे, ईश्वर के समान सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान नही बन सकता। योगाभ्यास के द्वारा जीव ब्रह्म को जानकर-मोक्ष को प्राप्त कर सकता है-'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति'।[2]

एक स्थान पर आत्मा (जीव) को सुखप्रद कहा गया है। "देवोनयः सविता.... आत्मेव शेवो दिधिषाय्योऽभूत्" (ऋ. १.७३.२) मे पठित 'आत्मेव शेवः' पद का अर्थ सायण ने आत्मा के समान सुखकारक किया है। मन, वाणी तथा समस्त इन्द्रियों का

---

(१) अयं होता प्रथम···अमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः। (ऋ. ६.९.४) द्रष्टव्य इस मन्त्र का द. भाष्य।

(२) यजुः ३१-१८

धारणकर्ता जीवात्मा ही है। 'पतङ्गो वाच मनसा बिभर्ति,'[1] अर्थात, आत्मासंकल्प विकल्प द्वारा ज्ञान करने वाले मन से वाणी को धारण करता है। वह जीवात्मा साथ रहने वाली और चारों ओर फैलने वाली इन्द्रियशक्तियों को धारण करता हुआ देहों के बीच मे आता जाता है।[2] यह आना जाना ही जीवात्मा के उत्क्रान्ति, गति और आगति आदि धर्म है।[3] जीवात्मा के ये तीन धर्म तभी सम्भव हैं जब उसे अणु अथवा परिच्छिन्न माना जाये अथर्ववेद में जीवात्मा को परिच्छिन्न माना गया है। अथर्ववेद का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने 'अण्यसः' (१९.६८.१) शब्द का अर्थ किया है—अण्यस.अव्यापकस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मनः अर्थात्, अव्यापक परिच्छिन्न जीवात्मा का। यह उत्क्रान्ति एवं आना जाना अणु परिमाण जीव में ही संभव है। प्रकारान्तर से जीव के अणुत्व का उल्लेख करते हुए अथर्ववेद-(१०.८ २५) में कहा गया है-'बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते। ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया।' एक अर्थात् जीवात्मा बाल से भी सूक्ष्म है और प्रकृति है जो दीखती ही नही। उन दोनों मे व्याप्त जो देवता है वही मेरा प्रिय है।' अथर्ववेद' के ही अनुसार इस अणु परिमाणवाले आत्मा का निवास स्थान हृदय अर्थात् मस्तिष्कगत प्रदेश है।[4]

जीवात्मा प्रकृत्यादि पदार्थों का भोक्ता है।[6] भोग का आधार जीवात्मा के अपने कर्म हैं। मन्त्र कहता है—मै प्राणी के पालन करनेवाले को कभी नाश हुआ नही देखता हू। उसको पास और दूर के मार्गों से कर्मफल भोगते हुए' देखता हू।[8] जीव कर्मफल भोगने मे परतन्त्र है। अपने सामर्थ्यानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र

(१) ऋ० १०.१७७.२

(२) (क) सः सध्रीचीः सः विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः। (ऋ.१०.१७७.३)
(ख) ऋ. १०/१७०.६

(३) ब्रह्मसूत्र २.३ १९

(४) अथर्व०. १०..२३१. ३२. ३३,

(५) आ. लक्ष्मीदत्त दीक्षित, अनादितत्वदर्शन, पृ० ७१

(६) तयोरेकं पिप्पलं स्वाद्वत्ति। (ऋ. १.१६४.२०)

(७) पक्व: पक्तारं पुनराविशाति (अथर्व)

(८) ऋ. १.१६४.३१ (द. भा.), १०.१७७.३

स्वतंत्र है। ज्ञातृत्व कर्तृत्व और भोक्तृत्व जीव के स्वाभाविक गुण हैं। पाणिनि के अनुसार 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' (अष्टा० १.४.५४)–कर्त्ता वह है जो 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' करने, न करने अथवा उल्टा करने में स्वतन्त्र है। और स्वतन्त्र वह है कि जिसका शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण उसके अधीन है। इस प्रकार अपने सामर्थ्यानुसार कर्म करने में जीव पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है।

वेदों और गीता में विधि-निषेधात्मक अर्थ जीवात्मा को लक्ष्य करके कहे गये हैं। उनका अधिष्ठाता होने से वह (जीव) कर्त्ता है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' (यजु. ४०.२), त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' (यजु. ४०.१), अक्षैर्मा दिव्यः (ऋ. १०.३०.१३), पशून् पाहि (यजु. १.१), कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन (गी. २.४), योगस्थः कुरु कर्माणि (गी. २.४८), तस्माद् योगाय युज्यस्व (गी. २ ५०), तस्माद् युध्यस्व भारत (गी. २.१८)-इत्यादि सन्दर्भों में अनेकत्र जीवात्मा के लिये 'किं कर्म किम् अकर्मेति' का विधान है। विहित कर्मों के अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मों के परित्याग का निर्देश होने से स्पष्ट है कि कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है।

गीता (१३-२९) के अनुसार 'जीव' कर्त्ता नहीं है, 'प्रकृति' ही कर्त्ता है। जीव तो गीता (११-३३) के अनुसार 'निमित्तमात्र' है, असली कर्त्ता तो प्रकृति है। प्रकृति के गुण ही काम करते हैं, जीव काम नही करता :—

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकार विमूढात्मा कर्त्ता ऽ हमिति मन्यते ॥ गी. ३.२७)

प्रकारान्तर से इसी सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए गीता (१८.६१) में कहा गया है—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥'

अर्थात्, ईश्वर हमारे भीतर बैठा हुआ 'यन्त्रवत्' हमारा सञ्चालन कर रहा है। इस सिद्धान्त का यह अर्थ नहीं है कि हम कुछ नहीं करते; वही सब कुछ करता है, हम तो मशीन की तरह चल रहे हैं। इसका यह अर्थ है कि हम चाहे जो करें, कर्म करने में तो हम स्वतन्त्र हैं, स्वतन्त्र तो दीखते ही हैं—इससे कौन इन्कार कर सकता है, परन्तु कर्म का फल तो हमारे हाथ में नहीं, वह तो 'यन्त्रवत्' चल रहा है, उसमें कारण कार्य का अखण्ड-नियम [Law of cause and effect] काम कर रहा है।

जीवात्मा के कर्म-स्वातन्त्र्य की भावना गीता के इन शब्दों में भी स्पष्ट झलकती है—'विमृश्यैतदशेषेण-यथेच्छसि तथा कुरु' (गी. १८.६) अर्थात्, श्रीकृष्ण ने जो कहना था वह कह दिया और अन्त–'मैं इस पर पूरी तरह विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर'। इस प्रकार गीता भी ईश्वर के मात्र प्रेरयिता होने तथा जीव के अपनी इच्छानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र होने के सिद्धान्त की पुष्टि करती है।

वेदों में जीवात्मा की दृष्टि से जीव अनेक हैं। 'रेतोधा आसन् महिमान आसन्' (ऋग्० १०.१२९.५)—इस मन्त्र-खण्ड का अर्थ आचार्य सायण ने "सृष्टि के आदि में बीज धारक पुरुष (भोक्ता) उत्पन्न हुए" इस प्रकार किया है। आ. वैद्यनाथ शास्त्री "दर्शन तत्व विवेक" के पृष्ठ ३६ पर "रेतोधाः—कर्मफल धारण करने वाले तथा महिमानः—मुक्तजीव, आसन्— विद्यमान थे" इस प्रकार अर्थ करते हैं। उपर्युक्त दोनों ही अर्थ तथा मन्त्रगत बहुवचनान्त क्रिया और कर्त्ता जीवात्मा की अनेकता सिद्ध करते हैं। अन्य भी कई ऋचाओं में जीवात्मा के लिए बहुवचन का प्रयोग हुआ है। जिससे आत्माओं का नानात्व सिद्ध होता है। जैसे–'इमे जीवाः' (ऋ. १०.१८.३) 'इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि' (ऋ. १०.१८.४), 'वयं जीवाः प्रतिपश्येम (ऋ.१०.३७.८), 'वयं जीवा जीवपुत्राः' (ऋ.१०.३६.९), 'ये समानाः समनसो जीवाः' (यजु. १९.४६), यस्मिन्नोताः प्रजा इमा (अथर्व. १०.८.३७)। लोक में भी मैं, हम, तू, तुम, वह आदि व्यवहार होने से प्रत्येक देह में भिन्न आत्मा के अस्तित्व की पुष्टि होती है।

गीता में भी आत्मा की अनेकता कई स्थलों पर दर्शायी गयी है। भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ २/१२

ऐसा कोई समय नहीं था, जब मैं नहीं था या तू नहीं था या ये सब राजा नहीं थे और न कभी कोई ऐसा समय आएगा जबकि हम सब इसके बाद नहीं रहेंगे।' शङ्कराचार्य इस अनेकता के उल्लेख को केवल रूढ़ मानते हैं। इनकी युक्ति है कि बहुवचन का प्रयोग केवल शरीरों के लिये किया गया है, जो कि अलग-अलग हैं, एक विश्व-जनीन आत्मा के लिए नहीं।[1] मां ये जनाः पर्युपासते (गी.९.२२), 'ईश्वर सर्वभूतानां (गी. १८.६१), आदि वचनों से भी आत्मा का बहुत्व सिद्ध होता है।

आत्मा के लिये ऋग्वेद में जीव 'ऋ. १.१६४.३०, १०.१८.३-४, १०.३७.८) आत्मा (ऋ. १.१६४.४), इन्द्र (ऋ. १०.१६७.१, ६.४७.१८), पतग (ऋ. १०.१७७ १-२) अमर्त्य (ऋ. १.१६४.३०.३८) तथा त्वष्टा (ऋ. ६.४७.१९) आदि संज्ञाओं का व्यवहार हुआ है। गीता में भी जीवात्मा को देही (२.३, २२, ३०), शरीरी (२.१८), अविनाशी (२.२१), अव्यय (२.२१), सनातन (२.२४), अक्षर (१५-१६), क्षेत्रज्ञ (१३.१) आदि नामों से अभिहित किया गया है।

जीव की तीन अवस्थायें:—

गीता के १५ वें अध्याय के ७ से ९ श्लोकों में श्री लो. बा. गं. तिलक के अनुसार जीव की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। सातवें श्लोक में बतलाया कि सूक्ष्म या लिंग शरीर क्या है। लिंग शरीर पांच इन्द्रियें तथा मन के संघात का नाम है। आठवें श्लोक में बतलाया कि लिंग शरीर इस स्थूल देह में कैसे प्रवेश करता है और कैसे इसमें से निकलता है। जैसे वायु गन्ध को लेकर चलता है, वैसे लिंग शरीर मन तथा इन्द्रियों को सूक्ष्म रूप में लेकर पुराने शरीर से निकलता और नये जन्म में प्रवेश करता है। नौवें श्लोक में कहा कि जब लिंग शरीर, स्थूल देह धारण कर लेता है तब विषयों का उपभोग कैसे करता है। देह धारण करने के बाद वह कान, आंख, त्वचा, जीभ, नाक और मन का आश्रय लेकर विषयों का सेवन करता है।[2] गीता (१५.१) के अनुसार शरीर में रहते, भोगों का भोग करते तथा शरीर से निकलते हुए आत्मा को ज्ञानचक्षु से देखा जा सकता है।

---

१. देहभेदानुवृत्त्या बहुवचनम्, नात्मभेदाभिप्रायेण।
२. सर्वमत सिद्धान्तादि, गीताभाष्य, पृ० ४६०

जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध—वेदों में जीवात्मा और परमात्मा (ब्रह्म) के सम्बन्ध को अनेक उपमाओं से दिखाया गया है। जैसे—

१. स नः पितेव सूनवे। (ऋ. १.१.९)

'वह हमारे लिए उसी प्रकार दयालु है जैसे पुत्र के लिए पिता।'

२. सखित् सखित्व ईमहे। (ऋ. १.१०.६)

'हम सखापन के लिए ईश्वर से प्रार्थी हैं।'

३. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता। (ऋ. ८.९८.११)

'हे प्रभो! तुम हमारे पिता भी हो और माता भी।'

४. इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा।

शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥

(ऋ. ७.३२.२६., अथर्व २०.७९.१)

'हे ईश्वर! हमारे कामों को भरपूर कर जैसे पिता पुत्रों को करता है। हे उपास्यदेव! हमारे इस मार्ग में हमको शिक्षा दे कि हम प्रकाश को प्राप्त हों।

५. स नो बन्धुः। (यजु०, ३२.१०)

'वह हमारा सम्बन्धी है।'

६. एक इद् राजा। (यजु. ३३.३)

'वही हमारा राजा है।'

परन्तु ये सब उपमायें हैं। उपमायें एकाङ्गी होती हैं। इनसे भी अधिक सूक्ष्म सम्बन्ध दिखाने के लिए एक वेद मन्त्र है:—'त्वमस्माकं तव स्मसि' (ऋ. ८.९२.३२) अर्थात्, तू हमारा है और हम तेरे हैं। पं.गं.प्र. उपाध्याय के शब्दों में—यह सम्बन्ध की पराकाष्ठा है। यहां सब उपमायें समाप्त हो जाती हैं इससे अधिक क्या कहना चाहिए समझ में नहीं आता।[1]

गीता में भी जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को दर्शाया गया है। श्री अरविन्द के अनुसार यह जीव (अक्षर-पुरुष गी. १५-१६,) ब्रह्म का एक अंश है। श्री अरविन्द

१. गंगाप्रसाद उपाध्याय, जीवात्मा, पृ० ४७५

का कहना है कि गीता का श्लोक "ममैवांश: जीवलोके जीवभूत: सनातन:' (१५—७)—'मेरा एक अंश ही जीवों के जगत् में जीव बनता है'-अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस श्लोक में जीव को ब्रह्म का 'अंश' कहा गया है। इसका यह अर्थ है कि व्यक्तिगत आत्मा इस लोक के परे सनातन के अन्दर विद्यमान है और सदा विद्यमान था क्योंकि वह स्वयं भी सनातन है। स्पष्टत:, जीव की इस समानता के इस विचार से प्रेरित होकर ही गीता ने ऐसे किसी भी शब्द का प्रयोग नही किया है जो जीव के पूर्ण लय की ओर जरा भी संकेत करता हो, बल्कि उसने पुरुषोत्तम के अन्दर निवास को ही जीव की सर्वोच्च स्थिति बतलाते हुए कहा है—'निवसिष्यसि मयि एव 'माम् एव एष्यसि' मुझमें ही निवास करेगा, मेरे पास ही पहुंचेगा। जीव के ब्रह्म मे 'निवास' और 'लय' में जमीन—आसमान का अन्तर है। 'निवास' में उसका अस्तित्व बना रहता है, 'लय' में अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

श्री अरविन्द का कहना है कि यद्यपि जीव मुक्तावस्था में ब्रह्म में निवास करता है, उसका अस्तित्व मिट नहीं जाता, वह मौजूद रहता है, फिर भी, क्योंकि वह ब्रह्म का ही अंश है, इसलिए यह जीव, यह पुरुष उस पुरुषोत्तम से इतर नहीं है, उस पुरुषोत्तम का ही अंश है। ईश्वर का 'अंश' होने के कराण या अपनी सत्ता में साक्षात् ईश्वर ही है। ईश्वर अपने एकत्व के सनातन बहुत्व के द्वारा हमारे अन्दर अविनाशी जीव के रूप में सदा विद्यमान रहता है।[1]

द्वैतवादियों की सम्मति मे गीता में जीव को सत्-चित् कहा गया है (ममैवांश:)। ब्रह्म के दो गुण सत्-चित् जीव में हैं 'आनन्द' ब्रह्म का ही गुण है, तथा वेद, उपनिषद् [illegible]-सबका उद्देश्य जीव को 'आनन्द' तक पहुंचाना है।

न्याय-दर्शन के अनुसार 'इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दु:ख-ज्ञान' ये आत्मा के लिंग हैं, गुण हैं, उपनिषद् के अनुसार 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रियाच' ये ब्रह्म के लिंग है गुण हैं। इस दृष्टि से इन बातों में तो जीव तथा ब्रह्म समान हैं। ये दोनों बातें 'सत्-चित्' इन दो शब्दों में आ जाती हैं। जीव तथा ब्रह्म में मुख्य भेद यह है कि जीव में सुख

१. स.प्र. सिद्धान्तालंकार, गी० भा० पृ० ४६८—६९

के साथ दुःख बना रहता है, ब्रह्म में दुःख नहीं रहता, आनन्द ही आनन्द रहता है। उसी बात को सम्मुख रखकर गीता ने जीव को ब्रह्म का —'ममबांश:'— कहा है, अर्थात् जीव अंश रूप में ब्रह्म के समान गुणोंवाला है।

पुनर्जन्म— हम ऊपर लिख चुके हैं कि जीवात्मा 'उत्क्रान्ति, गति और आगति धर्मवाला अर्थात् अवच्छिन्नधर्मा' है। उसका शरीर से निकल जाना मृत्यु और शरीर से संयुक्त होना जन्म है। शास्त्रीय भाषा में इसे ही पुनर्जन्म कहते हैं। वेदों और श्रीमद्भगवद्गीता में पुनर्जन्म के बारे में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। शरीर में संयुक्त होकर जीवात्मा के जन्म लेने के सम्बन्ध में ऋग्वेद (५ ७८.९) और अथर्व॰ (१.११.६) का यह मन्त्र द्रष्टव्य है—

"दश मासाञ्छशयान: कुमारो अधि मातरि।

निरैतु जीवो अक्षत जीवो जीवन्त्या अधि॥

अर्थात् दस मास तक माता के भीतर रहकर प्राणों को धारण किये हुये जीव जीवित माता के गर्भ से सुखपूर्वक निकले।" इसके अतिरिक्त अथर्व. (११.४.१४., ७.६.७.१., ५.१.२) और यजु. (४.१५) में भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। अथर्व. (५.१ १) के अनुसार यद्यपि जीव अमर जीवन शक्ति से युक्त है, फिर भी वह उत्तम जन्म लेने वाला है (अमृतासु: सुजन्मा)। ऐसा ही वर्णन 'अजायमानो बहुधा विजायते' (यजु॰ ३१.१९) में भी आया है।

गीता में भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं —

'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥ (४.५)

मेरे और तेरे भी बहुत—बहुत से जन्म पहले हो चुके हैं। हे शत्रुओं को सहाने वाले (अर्जुन), मैं इन सबको जानता हूं, पर तू नहीं जानता। गीता २.२२ और २.१३ में भी बड़े जोरदार 'शब्दों' पुनर्जन्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार वेदों और गीता के सिद्धान्तानुसार जीव अनादि (गी.१३.१९) और अनन्त है। यह परिच्छिन्न अर्थात् एकदेशी और चेतनसत्ता कर्त्ता है, जो कर्म स्वतन्त्र है। इसको — 'कर्तृत्व— भोक्तृत्व— ज्ञातृत्ववानणु' कह सकते हैं। जीव अनेक अर्थात् संख्या की अपेक्षा अनन्त है। इनमें भिन्न-भिन्न कालों में परिस्थिति के अनुसार ज्ञान की अपेक्षा से परिवर्तन होता रहता है। अर्थात् जीव का ज्ञान घटता बढ़ता रहता है, और इसी के अनुसार उसकी भोक्तृत्व और कर्तृत्व शक्ति भी प्रभावित होती रहती है।

"वैदिक सोम का महत्व"

लेखक– डॉ० सत्यदेव निगमालंकार
मौ० चाकलान, ज्वालापुर, हरिद्वार

वेद भारतीय संस्कृति के मूल–स्रोत के साथ ही ज्ञान एवं विज्ञान के भी मूल स्रोत माने जाते हैं। भारतीय इतिहास में वेदों को हमारी सभ्यता और संस्कृति के उद्‌भावक होने का गौरव प्राप्त होने के साथ ही उनका स्थान पूजनीय एवं वन्दनीय माना गया है। प्राचीन काल से लेकर आज तक भी इन्हें सदाचार, धर्म, सभ्यता और संस्कृति रूपी ज्ञान स्रोत के उद्गम–स्थल मानें जाते जा रहें है। वेंद वस्तुनः भारतीय ही नहीं अपितु मानव मात्र के ज्ञान चक्षु हैं। वेद स्वतः प्रमाण तो है ही साथ मे अन्य सत्य शास्त्रों का प्रमाण भूत स्वयं वेद हैं। समस्त सत्य विद्याओं के जनक तथा सकलान्य ज्ञान विज्ञान के उदभाषक भी ये ही हैं। इसी लिये महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा–

> न वेदशास्त्रादन्यन्तु किञ्चिच्छास्त्रंहि विद्यते।
> निस्सृतं सर्वं शास्त्र तु वेद शास्त्रात्सनातनात्॥

इन वेदों को विद्वानों ने बहुत आहार दिया। उन्होंनें तो वेद का विरोध करने वाले को नास्तिक तक की संज्ञा प्रदान कर दी –

> नास्तिको वेद निन्दकः॥मनु० २।११॥

समस्त वैदिक साहित्य में स्मृतियों और पुराणों में इनकी पद पद पर प्रशंसा की गयी हैं। महर्षि मनु तो वेदों को पितृगण देवता और मनुष्यों का सनातन चक्षु घोषित करते हैं। संसारस्थ पदार्थों को जानने के लिये जिस प्रकार इन चर्म चक्षुओं की महती आवश्यकता होती हैं। बिना इनके लोकस्थ पदार्थों का ज्ञानकदापि नहीं हो सकता है। उसी प्रकार अलौकिक तत्वों को जानने के लिए वेद रूपी चक्षु आवश्यक है। —

> पितृदेव मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्
> अशक्यं चाप्रमेय च वेदशास्त्रमिति स्थिति॥म०१२।९४॥

इन्हीं अपरिहार्य कारणों से हमारे शास्त्रकारों ने वेदों का स्वाध्याय अपरिहार्य अंग स्वीकार किया है। शतपथकार में वेद के स्वाध्याय की ओर–प्रेरित करते हुये कहा है

कि धन धान्य से परिपूर्ण भूमि के दान से जो फल दाता को प्राप्त होता है। उससे भी अधिक फल वेद का स्वाध्याय करने मात्र से अध्येता प्राप्त कर लेता है।—

यावन्तं ह इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णांददल्लोकं जयति त्रिभिस्तावत् जयति भूयांसं चाक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ श० ब्रा० ११।५।६।१॥ इस वेद स्वाध्याय परम्परा के अन्तर्गत जब हम प्रवेश करते हैं तब बहुशः इस प्रकार के शब्दों की पुनरावृत्ति अध्येता के समक्ष उपस्थित होती है। कि वह कदाचित् उसकी ऊहापोह में ही खो जाता है। इस पुनरावृत्ति की परम्परा में आज सोम पर ही कुछ दृष्टि पात करते हैं। यद्यपि सोम को विद्वानों ने बहुत रूपों में देखा है। उणादि कोष में सोम को कपूर और चन्द्रमा के नाम से पढ़ा गया है।

सवत्यर्थैश्वर्यं हेतुर्भवतीति सोमः कर्पूरश्चन्द्रमा वा ॥ १।२।६० ॥

श्री अमर सिंह ने अपने कोष में सोम को चन्द्रमा के रूप में कहा है– अब्जोजैवातृक सोमोग्लौमृगाङ्कः कलानिधिः ॥१।३।१४॥ नर्मदा नदी के नाम गिनाते हुए उसे सोमोद्भवा (सोम से– उत्पन्न होने वाली) कहा है—

रेवातु नर्मदा सोमोद्भवा मेकल कन्यका ॥१।१०/३२॥

वैदिक परम्परा में सोम से अनेक प्रकार के यज्ञ होते थे। उस यज्ञ में सोम को एक लता के रूप में स्वीकार किया जाता था। जिसके रस का पान यजमान–दम्पति किया करते थे और यथेच्छ फल प्राप्ति किया करते थे। इसलिए उस दम्पत्ति को सोमपीथी और सोमय नामों से पुकारा जाता था–

सोमपीथो तु सोमपा। ॥अमरकोश २।७।९॥

भौतिक जगत में सोम को विद्वानों में अनेक रूपों में देखा है। किन्तु वेद में सोम को अत्यधिक रूप में परमात्मा ब्रह्मचारी और आचार्य के रूप में देखा गया है। यजुर्वेद के चतुर्थ अध्याय के विसवां मन्त्र में इस सोम को अड़तालीस वर्ष पर्यन्त विद्याध्ययन के साथ ब्रह्मचर्य व्रत पालक को रुद्र ब्रह्मचारी के नाम से पुकारता है —

सोमं रुद्रस्त्वावन्यतंन्तु ॥ इति

अथर्ववेद का ऋषि इस सोम को आचार्य के रूप में देखकर ऋचा का गान कर रहा है—

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोमः ॥११/५/१/७॥
सोम को ऐश्वर्य सम्पन्न नाम से करते हुये इसकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की जाती है—

सुवति ऐश्वर्यवान् भवतीति सोमः षु प्रसवैश्वर्ययोः से सोम सिद्ध किया जाता है। जहां वेद में आनन्दमयकोश की सिद्धि हेतु चित्त को समाहित करने वाले साधनों के वर्णन के साथ समाधि का अभ्यास निरन्तर रूप से आवश्यक बताया है। वहीं उस स्थिति से लाभों का वर्णन करते हुये कहा गया है कि उपासक समाधि की अवस्था में पहुंचकर जब परमात्मा के सोम स्वरूप का सेवन करता है तब उसके आनन्दमयकोश के चारों ओर अहंकार तथा सूक्ष्म प्रकृति आदि बन्धन के कारण स्वतः क्षीण होकर नष्ट हो जाते हैं। अन्य कोई साधन उसकी आत्मा को वैसा परिमल नहीं कर सकता है जैसा सर्वोत्पादक सोम स्वरूप परमात्मा करता है। वैदिक ऋचाओ मे परमात्मा की इस सोम-स्वरूपाशक्ति काप्रतिपादन अनेकशः दृष्टिगोचर होता है—

येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा ॥साम० १३०२
सोमः पुनानः कलशेषु सत्ता।
आते दक्षः पवमानस्य सोमः ॥ऋग ६/९६/२३,२४॥

संयम पूर्वक जब योगी आन्तरिक उपासना निरन्तर करता है तब उसकी उपलब्धि का सार सोम ही तो है—

प्रतेधारा अत्यण्वीनमेध्यः पुमानस्य संयतो यन्ति रंहयः।
यद् गोभिरिन्दोचम्वोः समन्यस आ सुवानः सोमकलशेषु सीदसि, ०६/८६/४७॥

जब उस योगी के हृदय में आनन्द की धाराओं का स्रोत अनवरत गति से प्रवाहित होता है तब कर्मो को जानने वाला सोम परमात्मा सर्वोपासनाओं के आधार एवं रक्षक, वरणीय पुरुष में प्रेमपूर्वक शान्ति स्थापित करता है, पवस्व सोम क्रतुविन्नः उक्थ्योवारे परिधाव मधु प्रियम् ॥०६/८६/४८॥

सोम का रुप इतना विशाल है कि उसको वेदों में बहुशः वर्णित किया है। सोम की महिमा का उच्चस्तरीय वर्णन सर्वत्र उपलब्ध होता है। सोम को जगदुत्पादक तथा

शुभ गुण प्रदक परमात्मा के नाम से सम्बोधित किया गया है। सोम को वस्तुत प्रकाशो और शुभकर्मों मे सुप्रज्ञ और सुकर्मा रूप से जगत मे प्रसिद्ध हुआ है। यह सर्वैश्वर्यव्यापक और सब कुछ जानने वाला होकर अपनी दक्षताओ (बलो) के कारण सुदक्ष (अतिकुशल) नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सुख धन विद्या और शान्ति को वह सतत रूप से वर्षाता रहता है। इसीलिए ये लोकवासी उसे सुखवर्षक नाम से जानते हैं। साथ ही वह सोम संसारस्थ समस्त मानवो के हृदयो को जानता है। इसीलिय यश अन्न और धनो से स्वय तेजस्वी यशस्वी अन्नवान् धनी हुआ है—

त्व सोम क्रतुभि सुक्रतुर्भू त्व दक्षै सुदक्षो विश्ववेदा ।
त्व वषा वृषत्वेभिमहित्वा द्युम्नेभिर्द्युम्न्यभवो नृचक्षा ॥१/९१/२॥

वह सदा वर्षणशील सोम हमारे ऊपर निर तर सुखो की वर्षा कर रहा है। वह जो कुछ भी करता है सब सुकृत रूप ही है। इसका किया हुआ कम कदापि अशुभता मे परिवर्तित नही होता है। निरन्तर रूप से प्रत्येक कम मे वह सुदक्षता अपनाये बैठा है। कुशलता सुदक्षता मे परिवतन हो रही है। मनुष्य के पास कुशलता तो है किन्तु यह कुशलता तभी सुदक्षता का रूप धारण कर सकती है जब मानव विश्व वेदा हो जाये। विश्ववेदा अर्थात् सर्वव्यापक और सवज्ञ होना मनुष्य के स मथ्य से बाहर की बात है। विश्वस्मिन् विद्यते (विद् सत्तायाम्) से अथवा विश्व न वेत्ति (विद् ज्ञाने) से विश्व वेदा शब्द सिद्ध होता है। जो विश्व मे व्यापक हो जाये अथवा जो इस विश्व को जाने—दोनो अर्थों के होने पर ही विश्ववेदा बन सकता है। ये दोनो गुण मानव की पहुच से दूर की वस्तुए है। जब पहुच से दूर है तो मानव सुदक्ष कैसे बन सकता है फिर तो मानव को अपनी नियत शक्ति कुशलता मे ही निर्वाह करना पडता है। मानव प्रत्येक कम को करने से पूव उसमे अपनी कुशलता का प्रयोग कर उसके परिणाम का ध्यान करता है। किंतु कभी—कभी उसकी इस कुशलता का परिणाम बहुत विपरीत निकलता है। जिसको वह कभी सोच नही रहा था, वही परिणाम उसके समक्ष उपस्थित हो जाता है। उसकी सम्पूर्ण कुशलता का दावा एक क्षण मात्र मे गुड—गोबर होकर रह जा है। वह अपने को कोसता है

उसके समस्त प्रयास काम नहीं देते और वह छटपटाता हुआ आंसू बहाता रहता है। कभी-कभी असह्य स्थिति में वह आत्महत्या पर भी तुल जाता है। किन्तु इस लोक प्रभु की कुशलता में कभी भी सुदक्षता की कमी नहीं आती है। वह जिसको रचता है उसे देखकर वह ही नहीं अपितु लोक लोकान्तरों के प्राणी अपने - अपने आनन्दातिरेक में डूबने लगते हैं। सृष्टि की रचना करके वृक्ष, पत्ते, फल, फूल आदि की सुन्दरता और परिणाम पर प्रत्येक आस्तिक और नास्तिक मोहित हो रहा है जन्म और मृत्यु की सृष्टि रचकर उसके परिणाम से भी समाज हैरान है। वह राजा को रंक और रंक को राजा बनाने में क्षण की भी देरी नहीं करता है। तब आध्यात्मवादी जन उसकी वाह-वाह कर उठते है। क्योंकि वह सोम जो कर रहा है, वह सब भोक्ता के कर्म का ही फल मात्र है। उसके यहां से फल-प्राप्ति में न देर है न अन्धेर ही है। वह तो तत्काल कालानुसार कार्य की सम्पन्नता प्रदान करता है। अतः वह सुदक्ष है विश्ववेत्ता है।

निरन्तर वर्षा करने के कारण वह वर्षक बना हुआ है। उसकी यह सुख शान्ति धन और ऐश्वर्य की वर्षा सभी के लिये है। सूर्य की धूप, चन्द्रमा की शीतलता, वायु का प्रवाह, नदियों के स्रोत, पृथिवी की गन्ध, अग्नि की उष्णता, सायंकाल की शान्ति, ब्रह्म मुहूर्त की गम्भीरता, वेद का ज्ञान, पुण्य का फल-सुख, पाप का फल दुःख औषधियों की शक्ति, और पक्षियों का मधुर संगीत-धनी और निर्धन, राजा और रंक, छोटा और बड़ा, गोरा तथा काला, मूर्ख तथा विद्वान्, शक्त तथा अशक्त, पापात्मा तथा पुण्यात्मा, देवात्मा तथा अन्त्यज, एवं मौनी और बहुभाषी-सभी के लिए समान रूप से अपना - अपना गुण प्रसारित कर रहे हैं। किसी को कम या अधिक होना उसके दरबार में यह अन्याय नहीं है। वह तो सतत प्रवाह से सभी को वर्षा रूप में धाराओं की गति से प्रदान कर रहा है। इस वर्षा को वह अहर्निश कर रहा है, करता आ रहा है। उसके करने का कोई काल भी तो नहीं है। कोई अन्तिम घड़ी का क्षण भी नहीं है। अतः वह वर्षक है। ग्रहण करने की क्षमता मनुष्य के ऊपर है कि वह कितना अपने पात्र में उड़ेलता है। मनुष्य जब कुछ बांटता है तो कुछ ही लोगों को उसकी

फल प्राप्ति होती है। किन्तु उस सोम की वर्षणशीलता सभी को प्रतिक्षण प्रत्येक स्थान पर ऐश्वर्य से भरपूर कर रही है। यही तो उसकी महनीयता है। अपनी इसी महनीयता से उसने अपना नाम सोमवर्षा रखा है। वह तो द्रु सींचने धातु से निष्पन्न होकर सींचने का कार्य अबाध गति से निःशंकता के साथ कर रहा है। आचार्य सायण उसी को ही—

"वृषा कामनां वर्षिता महांश्च"

अर्थात् जो उत्तमोत्तम कामनाओं का वर्षक है और महान् भी है, ऐसा सोम वर्षक कहा है। वर्षक बनकर सोम हमारे घर पर सभी प्रकार के धनैश्वर्यों की वृष्टि कर रहा है।

वह सोम ऐसा महान् है कि प्रत्येक मनुष्य के कर्म को देख रहा है। मनुष्य कहीं भी छिपकर कुछ कर्म करे वह सोम तो नृचक्षा बनकर उसे साक्षात् रूप से निहार रहा है। "चष्टे पश्यति" धातु यही इशारा हमें कर रही है। जिससे कि नृचक्षा शब्द सिद्धि को प्राप्त हो रहा है। अब वह सोम नृचक्षा बन जाता है। तब तेज, यश अन्न और धन को यथोचित रूप से मानव कृत क्रमानुसार प्रदान करता है। वह जानता है कि अमुक मनुष्य का यह कर्म है। अतः इसे इस मात्रा में धन, तेज, यश और अन्न देना चाहिए। मनुष्य नृचक्षा कदापि नहीं हो सकता है। अतः मनुष्य द्वारा प्रदत्त पद पुरस्कार अथवा दण्ड पूर्ण रूप से ही उचित हो यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि मनुष्य ने तो दण्ड धारक अथवा फलधारक के मात्र कुछ ही कर्मों को मात्र स्थूल नयनों से देखा है। जिनको देखकर वह स्वयं गद्-गद् हो गया है। किन्तु उस नृचक्षा सोम ने तो मनुष्य की प्रत्येक क्रिया को क्षण–प्रतिक्षण निहारा है। अतः उसकी न्याय व्यवस्था में कदापि दोष नहीं आ सकता है। वह सोम मनुष्य के विचारों को, चिन्तन को, मनन को और ज्ञान को नृचक्षा बनकर देख रहा है। इसलिए वह न्यायकारी

होने से तेजस्वी, यशस्वी, अग्निवान् और धनवान् स्वयं बना है। उसका तेज कदापि निस्तेज नहीं होता है। उसका बल कदापि दुर्बलता में परिवर्तित नहीं होता है। उसका यश कभी भी अपयश को भागी नहीं बनता है और उसका धन निर्धनता का रूप नहीं लेता है। वह स्वयं में इन द्युम्नो से परिपूर्ण होकर अन्यों को भी भरपेट द्युम्न दे रहा है। वह तो पूर्ण है इसका सद्रूप ब्रह्माण्ड पूर्ण है। उस पूण से यह सारा पूर्ण ब्रह्माण्ड निर्मित हुआ है और उस पूण से यदि सारा कुछ निकालने की कोशिश भी की जाये वह तब भी पूर्ण ही बना रहेगा। यही तो उसकी परिपूर्णता है—

पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात् पूण मुदच्यते।
पूर्णस्य पूणमादाय पूणमेवावशिष्यते ॥

इस प्रकार वेद मे उस आध्यात्मिक सोम रूपी प्रभु की सवत्र चर्चा की गई है। वस्तुत वह सोम परम शक्तिमान् परमात्मा ही है जो चराचर का स्वामी और सर्वशक्तिमान् है। जिसका सामर्थ्य अनन्त है। सुमित्र सोम न भव—कहकर ऋग्वेद प्रथम मण्डल के इक्यानवे सूक्त का बारहवा मन्त्राश हमे उसी सोम को मित्र बनाने की ओर निरन्तर निर्देश दे रहा है। उस का सामर्थ्य तो अनन्त है। उस सोम की शक्ति अद्भुत है। वह सोम चन्द्रमा के समान हमारी बुद्धि और पुष्टि का कर्ता है। वह सोम हमारे घर में, सन्तान मे धन मे, और प्राण मे पुष्टि को करता है। वह निरन्तर रूप से समस्त मानवो को अविद्यादि दोषो से दूर करता है। आत्मानन्द को अहर्निश प्रदान करता जा रहा है। और समस्त ऐश्वर्यों का प्रदाता वही सोम प्रभु है। हम उस सोम रूपी प्रभु के अनन्त सामर्थ्य को जानें, उसी की शान्तिप्रद शरण मे अपने को समर्पित करें तो हमें भी सुख और शान्ति का मार्ग प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नही—नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय ॥इतिशम्॥

अवतारवाद

लेखक—कौशलेन्द्र प्रपन्न
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

अवतार शब्द "अव" उपसर्ग पूर्वक "तृ" धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ होता है उतरना। अवतार शब्द का प्रयोग परमात्मा में सर्वव्यापक रूप में नहीं घटता। अतः उतर तो वह सकता है जो कहीं स्थान विशेष पर सिंहासन पर बैठा हो। उतर तो वही सकता है जो ऊपर हो, नीचे न हो।

जो सर्वव्यापक है, अणु—अणु, कण—कण में विद्यमान है, वह किस स्थान से किस स्थान पर उतरेगा ? अतः उसका अवतार कैसा ? यजुर्वेद में कहा गया है कि— 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषि परिभूः स्वयंभू र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ·········यजु० ४०/८॥

वह परमेश्वर सर्वव्यापक, शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान, (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) शरीर से रहित, छिद्र रहित, नस—नाड़ियों के बन्धन से परे, पवित्र, शुद्ध, निष्पाप, क्रांतदर्शी, सर्वज्ञ, सब जीवों के मनोभावों को जानने वाला, दुष्ट और पापियों का तिरस्कार करने वाला तथा सब के ऊपर विराजमान है। वह स्वयम्भू अनादि स्वरूप है तथा अपनी सनातन प्रजा के लिये यथार्थ सब पदार्थों को रचता हैं।···कठोपनिषद् २/२२

"न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्यनाम महद्यशः।"·········यजु०

दर्शन शास्त्र ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि "क्लेश कर्म विपाकाशयैर—परामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वरः।

अविद्या आदि पांच क्लेशों, कर्मफल और वासनाओं के ससर्ग से रहित पुरुष विशेष ईश्वर होता है। इस लक्षण से सिद्ध होता है कि ईश्वर देहधारी नहीं हो सकता क्योंकि यह सब बातें देहधारी में ही होती हैं।

हमारे पौराणिक बंधुओं का ऐसा कहना है कि जब—जब धर्म की हानि हुई है तब—तब ईश्वर अवतार लेकर पृथ्वी पर आता है और धर्म को नष्ट होने से बचाता है। भगवद् गीता के चतुर्थ अध्याय में भी कहा गया है कि:—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
"अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥"

परन्तु उसी गीता के अठारहवें अध्याय के श्लोक को नहीं पढ़ा तथा उसका अर्थ गलत समझा जा रहा है जो यह है :–

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वं भूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥"

पौराणिक लोग उन्हीं अवतारों में से एक वामनावतार मानते हैं। आप थोड़ा इस पर विचार तो कीजिये। भगवान को उस राजा से डर भी लग गया, ऐसा न हो कि अपने पुण्य कर्मों के फल से हमारा सिंहासन न ग्रहण कर ले। जरा सोचिये जो लोभ, मोह, काम, भय आदि से बिल्कुल ही परे है वह आखिर क्यों अपने सिंहासन छिन जाने के कारण भयभीत होगा।

भगवान क्या ऐसा कर सकते हैं ? जो पुण्यकर्मों को कर अपने यश वृद्धि में लगा हो उसे उसके कर्मों की वजह सिंहासन न मिल जाये। इसलिये उसे छल द्वारा रसातल में भेज दें। ईश्वर तो किसी को मारता नहीं, वह तो केवल उसके कर्मों का फल मात्र ही देता है।

ऐसे भी मनुष्य कर्म करने के लिये स्वतंत्र है तथा ईश्वर भी कर्मानुसार फल देने के लिये स्वतंत्र है। तो क्या उस राजा के पुण्यकर्मों का फल यही था कि उसका सारा राज पाट छल द्वारा जीत कर उसे रसातल भेज दिया जाय। यह भी तो प्रकृति के नियम के विरुद्ध ही है कोई अपने पैरों द्वारा पृथ्वी, आकाश और पाताल क्रमशः माप ले। अतः यह प्रमाणित करता है कि वामन ईश्वर का अवतार नहीं हो सकता है। यह दन्त कथा मात्र ही है। आप अगर गहराई से इस विषय पर विचार करेंगे तो आपको यह स्पष्ट समझ में आ जायेगा कि वामन एक मानव मात्र ही होगा न कि ईश्वरावतार।

फिर पुरुषोत्तम राम को भी भगवान् का हो अवतार मानते है। यहां तक कि स्वयं राम ने अपने को भगवान् का रूप नहीं माना। वो तो अपने को एक साधारण मानव ही मानते थे। सच्चरित्र, धर्मरक्षक, समाज–सुधारक आदि भी ईश्वर के समान ही हो सकते हैं। मगर इसका अर्थ यह तो नहीं कि उसे हम अवतार मानने लगेंगे तथा उसकी पूजा आदि मूर्ति स्थापित करके करेंगे। अगर ईश्वर अवतार लेने लगे तो उसमें तो विकार उत्पन्न हो सकता है। अवतार ग्रहण करने पर तो इसकी शक्ति भी सीमित मात्रा मे ही हो जायेगी। ईश्वर तो निराकार है तो फिर अवतार कैसा ? यह तो केवल विडम्बना ही चली आ रही है कि ईश्वर अवतार भी ग्रहण करता है। क्या एक मानव को मारने हेतु उसे शरीर को धारण करना पड़ेगा ? वह तो मनुष्य के कर्मों का फल ही देने का भागीदार है। जब वह कर्मों का फल देने के लिये स्वतंत्र है तो उसको अवतार लेने की क्या आवश्यकता ? सीता के अपहरण-कर्ता रावण को दण्ड ही देना था तो उसके मरने के उपरान्त भी दे सकते थे। राम ने जो रावण की हत्या की तो क्या राम ईश्वर के अवतार हो गये ? भगवान ने तो केवल प्रेरणा देकर प्रतिनिधि राम को बनाकर काम पूर्ण किया। अतः राम ईश्वरावतार नहीं हो सकते।

अगर ईश्वर एक व्यक्ति को मारने के लिये अवतार लेने लगे तो उसकी सत्ता का अस्तित्व ही क्या रह जायेगा। हाँ, राम एक महान पुरुष थे। इनका जीवन तो तपस्वियों की तरह था। श्री राम के आदर्श ग्रहण करने के योग्य हैं। उन्होंने यह दर्शाया है कि एक भाई का सम्बन्ध भाई के साथ कैसा होना चाहिये ? एक पति पत्नी का संबंध कैसा हो ? राजा–प्रजा का कैसा हो ? श्री राम तो पुरुषोत्तम थे। उन्हें ईश्वरावतार कहना उचित नहीं होगा। वास्तव में देखा जाय तो ईश्वर के शरीर धारण करने की आवश्यकता ही क्या है ? जिसने सारी सृष्टि की रचना बिना शरीर धारण किये की।

पौराणिक बन्धुओं ने तो योगीराज कृष्ण को भी भगवान का अवतार ही माना है। यह भी बिल्कुल ही गलत है। क्या ईश्वर कभी ऐसी लीलायें कर सकता हैं ? क्या वह नारियों के साथ नाचने और लीलायें करने हेतु अवतार ग्रहण करेगें ? जो कि कामनाओं आदि से मुक्त हैं। योगी कृष्ण तो एक तपस्वी थे। वे एक ब्रह्मचारी थे। शादी शुदा ब्रह्मचारी। शादी के बारह साल बाद तक जंगलों मे रहे। बाद मे एक पुत्र प्रद्युम्न हुआ। ईश्वर तो इन्द्रियों के बन्धन से मुक्त है फिर वह क्यों इसमें फसेगा ?

पौराणिकों ने यह भी बिल्कुल ही गलत अर्थ लगाया कि योगी कृष्ण ने ग्वालों की लड़कियों के साथ रास लीला रचाई। उन ग्वालों की लड़कियों को गोपी कहा जाता है। वे लोग अर्थ बिल्कुल ही गलत लगाते हैं क्योंकि जो गऊवों को चराता है उसे गोप कहते हैं, और इसी कारण चराने वालों को गोप कहने से गऊवों को गोपियाँ भी कह सकते हैं। यहाँ तक सुनने में आता है कि वे नग्न ग्वालियों को देखा करते थे। स्नान करते समय उनके कपड़े चुराकर भाग जाते थे। यह काम तो एक साधारण मनुष्य के लिये भी उचित नहीं है और ईश्वर तो कामनाओं से रहित है। क्या अवतारावस्था मे कृष्ण ने यही काम किया। योगी कृष्ण ने ऐसे काम किये हो जिससे मानवों की भावनाओं को ठेस पहुंचे, यह तो मैं नहीं मानता। यह तो बिल्कुल मिथ्या ही है।

उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने से ऐसा लगता है कि अवतारवाद मिथ्या ही है। यह तो अज्ञानता है या फिर ढकोसला ही है। चाल है और कुछ भी नहीं है।

मैं एकबार पौराणिकों से क्षमा मांगूगा कि मेरे ऊपर क्रोधित न हों क्योंकि सत्य कड़वा ही होता है। किसी रास्ते से भटके राही को मार्ग पर लाना हर एक मानव का ही कर्तव्य बन जाता है।

कालिदास कृत कुमार संभव तथा जयशेखरसूरि कृत जैन कुमार संभव का भाषा सौष्ठव

डा० श्रीमती पद्मजा अमित
मुन्नालाल कालिज, सहारनपुर

यह सत्य है कि भाषा शब्दों को रूप प्रदान करती है और रूप शब्द का प्रयोग किसी सज्ञा या क्रिया की विभक्तियो और उसके लकारों के लिए होता है। व्याकरण भाषा प्रयोग की प्रक्रिया की पहचान कराने मे समर्थ होता है। भाषा के अन्तरग और बहिरग पर विचार करने से किसी कवि के काव्य निर्णय मे सहायता मिलती है। व्याकरण भाषा का बाह्य स्वरूप निर्धारित करता है। एकार्थक अनेक धातुओ का प्रयोग अर्थवा अनेकार्थक एक धातु का प्रयोग कालवाची भूतार्थक अनेक लकारो मे से किसी एक का प्रयोग ही अधिक करना; भाषा–लालित्य की अभिव्यक्ति के लिए कुछ प्रत्यय विशेष के प्रयोग इत्यादि विचारणीय होते हैं। इस दृष्टि से कालिदास के कुमारसम्भव एव जयशेखर सूरि कृत जैन कुमार सभव की भाषा पर विचार करना इष्ट है।

कुन्तक ने सम्भवत कालिदास को सुकुमार मार्ग का कवि माना है। अश्वघोष व कालिदास के काव्य रीतिमुक्त शैली के प्रतिनिधि काव्य माने गये है। कालिदास की भाषा मे सहजता और गम्भीरता, लघुता एव विस्तार, माधुर्य एव गाम्भीर्य काव्य–प्रतिभा और पाण्डित्य का मिश्रण है। जैन कुमारसभव का अध्ययन करने पर यह अनुभूति होती है कि जयशेखर की भाषा कालिदास का अनुकरण करती हुई भी समकालीन परिस्थितियो से भी प्रभावित है। पाण्डित्य प्रदर्शन के इस युग मे जैनकुमार सभव तत्कालीन प्रवृत्तियो से अछूती नही रह पायी है। जैनकुमारसभव १४वी शती की रचना है। उस युग के जैनमहाकाव्यों मे व्याकरण पक्ष अति प्रबल हो चुका था। जिनप्रभसूरि का श्रेणिकचरित इसका उदाहरण है।[1] अपने युग से प्रभावित जयशेखर ने हेमचन्द्र के व्याकरण सिद्ध प्रयोग अपने जैनकुमार सभव मे किये हैं तथापि कहीं–२ कालिदास से विलक्षण साम्य दिखलाई देता है यथा

---

१ द्रष्टव्य श्रेणिक चरित, षष्ठसर्ग १४०–१४१

कालिदास रघुवंश के प्रारम्भ में—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषयामतिः।

तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥ रघु० १/२

कहकर आत्मलघुता प्रकट करते हैं वैसे ही जयशेखर सूरि भी—

कुमारसम्भवाख्येऽस्मिन् मतिः कुमारतापसी वर्णना

अहो महाधाष्ट्यमियं यदीहिते जडाशयो तद् क्रमेण कदाचिया जैनकु० २/१०

जयशेखर ने इन्द्र के मुख से विनयशीलता प्रकट की है। जैन कुमार संभव की भाषा में लालित्य एवं माधुर्य भी विद्यमान है। इसमें भूतार्थक परोक्ष, अनद्यतन तथा सामान्य भूत के लिए अधिकांशतः लिट् तथा लुङ् के प्रयोग मिलते हैं। इन लकारों का प्रयोग कालिदास तथा अश्वघोष के महाकाव्यों में भी मिलता है। कुमार-संभव में परिशालयाँ बभूव (४/४६) स्नावयाँ बभूवुः (७/१०) तथा जैनकुमारसंभव में निवेशयामास (१/१) प्रथयां बभूवुः (१/६६) आदि धातुओं के णिजन्त रूप हैं। लिट् लकार के आत्मनेपदी व परस्मैपदी रूप भी उभय कवियों के काव्यों में मिलते हैं। कालिदास कृत कुमारसंभव में लिट् लकार के रूप निम्नलिखित हैं :—
दुदुहः १/२, पुपोष १/२५, जुहाव १/२६, चुचुम्बे ३/३८।

जैनकुमारसंभव में लिट्लकार के रूप परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी दोनों में मिलते हैं। यथा निनाय १/७, निनिन्दुः २/४, जहास ३/४४, ममर्द ३/४६, जिजीवे ३/५४, सिषेवे ३/६६/ जैनकु० में लुङ् लकार का विशेष प्रयोग मिलता है—अगायताम् २/१, व्यघत २/३६, अवधि ३/६३, अमूमुहत् ४/५१, अपिबीकत् ५/६।

जैन कुमारसंभव में च्वि प्रत्ययान्त शब्दों का बहुलता से प्रयोग किया है—अवंशी-क्रियेत ३/३०, मुक्तीकरोति ३/६२, मृगीकृत्य ६/१७, सुमनोऽभूत्वाभविता ६/५७।

जैनकुमारसंभव में नामधातुप्रक्रिया के प्रयोग भी मिलते हैं—पोतति ५/२५, पवित्रयते ४/३६, औष्मायते ४/५८, अप्सरायसे ६/१५, आदि। जयशेखर सूरि की इस

कृति में निपातित शब्दों का बाहुल्य है—सम्वलि २/१६, । जीविका ४/५४, कुमारदिव्यम-४/१५ धनाधर्मीवका ६/२२, । निपातित प्रयोग कालिदास में भी मिलता है—प्रोक्ष २/१५, उदैन्वांश्च ७/७३, ।

जैनकुमारसंभव से व्याकरण के कुछ अन्य विशिष्ट प्रयोग प्रस्तुत है—सन्नन्त प्रयोग-रिरक्षया ८/१५, जिजीविषया ८/६, उपमित्सति ६/१७ । जुहोत्यादिगण प्रयोग-पिपर्ति ८/६६, इत्वतुं १६/८ ।

तल प्रत्ययान्त शब्दो का प्रयोग जैनकुमारसंभव में बहुलता से किया गया है —

स्वादुता मृदुलतामुदारतां सर्वतोऽप्यद्भुतामकूटताम् जैनकु० १०/६

यह तो स्पष्ट है कि दोनो ही कवियों का माध्यम संस्कृत है परन्तु कालिदास के प्रयोग पाणिनीय हैं और जयशेखर सूरि ने जैनाचार्यों द्वारा लिखे गये व्याकरण का आश्रय लिया है । विशेष रूप से हेमचन्द्र कृत व्याकरण ग्रन्थ का । कालिदास ने कृतसन्धि सप्तर्षि (१/१६) शब्द का प्रयोग किया है जबकि जयशेखर सूरि ने सप्तऋषि (१/२३) शब्द का प्रयोग किया है । जैन कुमारसम्भव में दुःप्रयुक्ता (१/१७) प्रयोग किया जबकि कालिदास ने ऐसे स्थल पर विसर्ग का प्रयोग न करके 'र' का प्रयोग किया है ।

कालिदास शब्द शास्त्र के विशेषज्ञ कहे जाते हैं ।[1] संस्कृत भाषा में हर, भव पिनाकी, कपालि आदि शब्द शिव के ही वाचक हैं । कालिदास ने इन शब्दो का प्रयोग प्रसङ्गानुसार ही किया है । 'हर' शब्द का प्रयोग शिव के रूप सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिये किया है ।[2] शिव के क्रोध का चित्रण करते समय कवि ने भव[3] शब्द का

---

१ द्रष्टव्य, कालिदास ग्रथावली मे प्रस्तुत 'निबन्ध कालिदास के शब्द प्रयोग' अम्बिका दत्त उपाध्याय पृ० २७

२ कुमारसभव १/५०

३. वही ३/७२

प्रयोग किया है। शिव के और हर को चित्रण करने के लिए पिनाकी[1] शब्द का तथा शिव की निन्दा करने के लिये कपालि[2] शब्द का प्रयोग किया है। ध्वन्यात्मकता कालिदास की भाषा की प्रमुख विशेषता है। कालिदास का व्यंजना पर असाधारण अधिकार है। तपोरता पार्वती का चित्रण कवि की इसी क्षमता का परिचायक है।[3]

कालिदास का शब्दशोधन उनकी कलात्मक रुचि का परिचायक है। शिव-पार्वती विवाह की चर्चा हिमालय व सप्तर्षियों के मध्य में हो रही है। समीप में बैठी पार्वती की मनः स्थिति का चित्रण कालिदास ने सुन्दर रूप में किया है—

लीला कमल पत्राणि गणयामास पार्वती ६/८४

विभिन्न सूक्तियों के माध्यम से कवि ने अपनी भाषा को सजाया है। यथा—

शाम्येत् प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः २/४०

प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ५/१

सूक्तियों एवं लोकोक्तियों के द्वारा भाषा प्रभावशाली, प्राणवान् एवं गतिशील बन गई है। साथ ही कालिदास के विचार गाम्भीर्य का भी बोध कराती है। इन वाक्यों में लोक व्यवहार ज्ञान का अनुभव है।

जैनकुमार संभव की भाषा में ध्वन्यात्मकता विद्यमान है। प्रथम सर्ग में जिन-वृत्तान्त से बालिकाओं समूह में सप्तर्षियों से संख्याविकल्प की व्यंजना होती है।[4] जयशेखर की भाषा में विषयोपयुक्तता का गुण भी विद्यमान है। जहाँ दर्शन जैसे क्लिष्ट विषय की अभिव्यक्ति है, वहाँ भाषा में सरलता तथा लालित्य की अनुभूति

१. वही ५/१
२. वही ५/७८
३. वही ५/२४
४. जैन कुमारसंभव १/१३

होती है।[1] सुमंगला के गर्भस्थ पुत्र के भोगों का उल्लेख करते हुये 'न मानवीष्वेव समाप्तकाम्रः कहकर उपमा के लिए सुर नदी गङ्गा की उपभोग भङ्गियों का चयन किया है जो कुमार की विलास प्रवृत्ति में भी पवित्रता का द्योतन कराने में समर्थ है।[2] भगवान् ऋषभ की आह्लादकारणी बाल्य प्रवृति को ध्वनित करने के लिए जयशेखर ने मन्दारतरोः प्रवाल:[3] शब्द का प्रयोग किया है। राजनीति के विषय में गम्भीर भावों को उदित करने वाली भाषा का प्रयोग किया है सुमगला को गर्भकाल में समुद्र दिखलाई देता है। समुद्र को अलब्धमध्य कहा है जिससे सुमंगला के पुत्र का गम्भीर होना व्यंजित है। गम्भीर व्यक्ति मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। इस भाव को व्यक्त किया है—

निभालनान्नीरनिधेरधीश्वरः सरस्वतीरसपूर्तिसंस्पृशाम् ।
अलब्धमध्योऽर्यिभि राश्रितो घनैः सुतस्तवात्येष्यति न स्वधारणाम् ॥
जैनम ६/६२

कुछ पदार्थों एवं शक्तियों के लिए ऐसे शक्तिशाली विशेषणों का प्रयोग कवि जयशेखर ने किया है जो कवि के मानस में व्याप्त वस्तुस्वरूप की अभिव्यक्ति कराते हैं। कालिदास ने तारुण्य और मार का मनोहर चित्रण किया है परन्तु जैन कुमार संभव में तारुण्य-मार की दृढ़ मैत्री में शठता का भाव देखा है—

शठौ समेतौ दृढसख्यमेतौ, तारुण्यमारौ कृतलोकमारौ ।
जै. कु. ३/१६

रमणीय स्त्रियों के लिए कामदेव की तलवार की तीव्रधारा मनोभूतरवारि-धारा:[4] रूप उपमान का चारु प्रयोग है। समासविहीना भाषा नाद सौन्दर्य से परिपूर्ण है—

१. वही ११/४६
२. वही ११/४५
३. वही १/३१
४. जैनकु० ३/१६

सर्वेषु यातेषु नरामरेषु (६/१) निशानिशा भंग विशेष कान्तिः (६/२)

जयशेखर सूरि की सूक्तियां विभिन्न ज्ञान के साथ-साथ भाषा की अर्थ शक्ति का भी उद्घाटन करती हैं—

नयं न भिन्ते विबुधेशिता यतः २/१६

वेद चरितं महतां कः ५/६

कालेन विना क्वशक्तिः ६/५

फलोफलब्धिः खलु दैववश्या ११/६३

जयशेखर के द्वारा प्रयुक्त कुछ शब्द जिज्ञासुओं को दर्शन की ओर प्रवृत्त करते हैं।[1] नय शब्द जैन दर्शन में प्रथित नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र शब्द समभिरुढ़ तथा सप्तनय की ओर इंगित करता है तथा संग्रह शब्द की परिभाषा 'सद्रूपतानतिक्रान्तं स्वस्वभावमिदं जगत्। सत्त्वरूपतया सर्वं संग्रहणत् संग्रहो मतः' की गई है।[2]

जैनकुमारसम्भव की भाषा सर्वथा विषयानुकूल है। सुमंगला की सुख शान्ति की निद्रा की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने दार्शनिक क्षेत्र में प्रविष्ठ हो समाधि के चित्र का आश्रय लिया है।[3]

उभय कवियों के द्वारा प्रयुक्त भाषिक अनुशीलन से यह तथ्य प्रकट होता है कि दोनों के अपने-अपने मान्य आदर्शों के मनुष्य अनुरुप भाषा में औचित्य का निधान किया है। कालिदास व जयशेखर की भाषा में जो अन्तर दिखलाई देता है वह उनकी परिस्थितियों के कारण हैं। कालीदास ने पाणिनीय भाषा का प्रयोग किया है तथा अपाणिनीय प्रयोग न के बराबर है। जयशेखर ने अपने द्वारा स्वीकृत जैन सम्प्रदाय गत दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए जिस संस्कृत का प्रयोग किया है वह जैनाचार्यों विशेषतः हेमचन्द्र के शब्दानुशासन के अनुरुप है। इसमें निपाति प्रयोगों का बाहुल्य है है जबकि कालिदास स्वभावतः भाषा में कहीं भी किसी भी कवि की अनुकृति सी करते प्रतीत नहीं होते।

---

१. नयस्य वश्यः किमु संग्रहस्य··········जैनकु० ३/२०

२. जैनकु० ३/२२ की टीका

३. जैनकु० ७/१८

हिन्दी एवम् अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छंदतावाद

डा० कृष्ण अवतार अग्रवाल
अंग्रेजी विभाग, गु. कां. विश्वविद्यालय, हरिद्वार

साहित्य मानव मन की भावनाओं को व्यक्त करने का एक माध्यम है जो देश एवम् काल की सीमाओं से मुक्त होता है। इस क्षेत्र में सभी देशों एवम् कालों के साहित्यकार का छायावाद एवम् अंग्रेजी साहित्य का रोमांटिसिज्म यद्यपि दो भिन्न-भिन्न देशों और कालों में है परन्तु वे मूलतः एक ही भाव व्यक्त करते हैं।

स्वच्छन्दतावाद अंग्रेजी साहित्य में १८७८ ई० में आरम्भ हुआ। जबकि इस काल के प्रमुख कवि वर्ड सवर्थ एवं कोल्डरिज ने संयुक्त रुप में 'लिरिकेल बैलेड्स' को प्रकाशित कराया। निओ क्लासिकल जो बौद्धिक, अतिनैतिक, सुधारवादी एवं शास्त्रीय रूढ़ियों से ओत-प्रोत था उससे साहित्यकार ऊब चुके थे और उन्होंने इस काल के क्लिष्ट छन्दों का परित्याग कर प्रकृति की मानव प्रेम, प्रकृति में चेतना का आरोप, रहस्यवाद, स्वतंन्त्रता, समानता, पारभौतिकता, पीड़ा सौन्दर्य के सूक्ष्म गुणों की पूजा, पलायन, व्यापक, मानवतावाद, वैयक्तिक प्रेम की अभिव्यंजना, सरल छंद, ऐन्द्रियता, धारा प्रवाह, उपासना कल्पना एवम् भावना, अतीत के प्रति प्रेम एवम् प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह है। ठीक इसी प्रकार हिन्दी में भी द्विवेदी युग में यही परिस्थितियां विद्यमान थीं। जिनका विरोध छायावादी काव्य धारा ने किया। अंग्रेजी के काव्यों को फ्रांस की राज्य क्रांति ने स्वतंत्रता का सन्देश दिया। उसी प्रकार हिन्दी के छायावादी कवियों को भी 'स्वराज हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' ने प्रेरणा दी। उन्होंने अपने आपको अंग्रेजी की दासता से मुक्त करने की भावना को अपने छायावादी साहित्य में व्यक्त किया है। रोमान्टिक युग के कवियों की सौन्दर्य और प्रेम भावनाएं धार्मिक संस्थाओं एवम् समाज की मान्यताओं के कारण कुण्ठित हो चुकी थी तो हिन्दी के छायावादी युवक कवि हिन्दू समाज की अनेक कुप्रथाओं एवं रूढ़ियों से अपने समाज को दबा हुआ प्रतीत करने लगे थे। हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक डा० नगेन्द्र छायावाद के विषय में लिखते हैं, 'इसमें सन्देह नहीं कि 'छायावाद' मूलतः रोमानी कविता है और दोनों की परिस्थितियों में भी आगरच

और कुण्ठा का मिश्रण है।' इस प्रकार अंग्रेजी साहित्य ने निओ क्लासिकल (Neo classical) युग की कठोर परम्परागत रूढ़ियों को तोड़कर स्वछंदतावाद को जन्म दिया तो हिन्दी साहित्य ने इतिवृत्तात्मकता, को त्याग कर छायावाद को स्वीकार किया। दोनों ही साहित्य मानव भाव, विचारों और अनुभूतियों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न भाषाएं होने पर भी एक है। अस्तु छायावाद एवम् रोमाण्टिसिज्म' मे जीवन के असतोष को व्यक्त करने की समान विचार धाराएं विद्यमान हैं।

अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध रोमाण्टिक कवि वर्डसवर्थ, कोल्डरिज, स्कौटस, रावर्ट साऊदे, बाइरन, कीट्स एवं शैले हैं। इन्हीं के काव्य स्तंभो पर 'स्वच्छंदतावाद' का विशाल दुर्ग निर्मित है। हिन्दी में छायावाद का काव्य महल जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' एवम् महादेवी वर्मा के अमर साहित्य स्तंभों से सुसज्जित है। दोनों ही साहित्य के ये अमर सरस्वती पुत्र सौन्दर्य एव प्रेम की भावनाओं को लेकर साहित्य के क्षेत्र में अवतरित हुए।

वर्ड्सवर्थ एवम् कोल्डरिज ने फ्रांस की क्रांति से असन्तुष्ट होकर प्रकृति की गोद में शरण ली। वे प्रकृति के सौन्दर्य में अपने आपको खो देना चाहते थे। वर्ड्सवर्थ का विश्वास था कि ईश्वर प्रकृति में विद्यमान है।

'It is Nature's low-a spirit and pulse of good, A life and soul, to every mode of being, inseparally linked !'

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि जयशंकर प्रसाद भी अपनी श्रेष्ठ रचना 'श्रद्धा' में प्रकृति का सौन्दर्य किसी भी प्रकार से कम सौन्दर्यशाली रुप से प्रस्तुत नहीं करते—

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला है ज्यों बिजली का फूल,
मेघ वन बीच गुलाबी रंग॥

छायावाद के अन्य कवियों ने अन्य युग के कवियों की भांति राधा, उर्मिला, पद्मिनी आदि को अपनी प्रेमानुभूति का विषय न बनाकर अपनी व्यक्तिगत प्रेमानुभूति को काव्य में प्रश्रय दिया। अंग्रेजी के रोमान्टिक कवि जौन कीट्स की आकांक्षा है—

"To catch white - handed nymphs in shady Places, To woo Sweet kisses From averted Faces."

हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पंत भी जीवन की इस प्रेम दुर्बलता से मुक्त नहीं है—

उसके उस सरलपने से
मैने' था हृदय लगाया
नित मधुर - मधुर गीतों से
उसका उर था उकसाया

प्रकृति का सौन्दर्य भी दोनों ही साहित्यों में सौन्दर्यशाली है। वर्डसवर्थ प्रकृति का एक महान् उपासक है। वह प्रकृति को शब्दों की तूलिका से चित्रित कर देता है। प्रकृति उसकी मन और आत्मा की पथ प्रदर्शक है। वह 'Tintern Abbey' मे कहता है—

"The sounding countracts haunted me like a passion, The tall rock the mountain, and the deep and gloomy wood their colours and their forms, were then to me, an appetite."

"These beautious Forms...............Passing into my pure mind with tranquil restoration Nor less I trust."

प्रसाद पंत, महादेवी वर्मा, आदि 'छाया वादी' कवियों ने भी प्रकृति में चेतनता का आरोप कर नारी रूप में उसका चित्रण किया—

'पगली हां ! संभाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल,
देख बिखरती है मणिराजी अरी, उठा वेसुध चंचल ।
फटा हुआ था नील वसन क्या ओ, यौवन की मतवाली,
देख अकिंचन जगत् लूटता, तेरी छवि भोली-भाली ।"

रहस्यवाद भी इन कवियों की मुख्य विशेषता हैं क्योंकि यह प्रवृति इनके व्यक्तिगत प्रेम की पूर्ण अभिव्यक्ति करने में सहायक रही है । वर्ड्सवर्थ की उत्तरार्द्ध की कविताएं आध्यात्मिक-वाद एवं रहस्यवाद से ओत-प्रोत है । जंगलों में भी आत्मा की अभिव्यक्ति पाता है । उसका विश्वास है कि आत्मा ही ईश्वर का रुप है । वह विश्व देवता बाद (Pantheism) में विश्वास करता है—

"A spirit that impels
All thinking things,
All objects of thought
All rolls through all things."

उसने अस्त होते सूर्य, चमकते सितारे, बढ़ते हुए वृक्ष तथा सुगन्धित पुष्पों मे भी ईश्वर के दर्शन किये । सम्पूर्ण विश्व उस ईश्वर के अलौकिक प्रकाश से प्रकाशित पाया । सुमित्रानन्दन पंत भी जगत् के कण-कण में उस अपार्थिव सत्ता को व्याप्त पाते हैं वे प्रश्न करते हैं—

"मैं फिर उत्कठातुर,
जगती के अखिल चराचर
यों मौन मुग्ध किसके बल ?"

श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी उस परम सत्ता का अस्तित्व स्वीकार किया उनके अनेक गीत इसी तथ्य को प्रकट करते हैं ।

अतः 'छायावाद' एवम् 'स्वच्छंदतावाद' में केवल प्रेम और सौन्दर्य की ही अतिरंजित कल्पना नहीं अपितु जीवन के यथार्थ को पहचानने की भी क्षमता है। अतः उनके काव्य में संसार की क्षण भंगुरता एवम् वेदना का स्वर अत्यन्त मुखर हो उठा है। जीवन के दुख और निराशाओं से उनका हृदय कराह उठा। आगे चलकर इन कवियों ने समन्वय का मार्ग ढूढ़ा। जीवन के इस कटु अनुभव को रोमान्टिक कवि शैले इन पक्तियों में व्यक्त करते हुए कहते हैं—

Our sincerest laughter with some pain in fraught
Our sweetest songs are those that tell of saddest thought.

विषाद को भी हर्ष का एक अभिन्न अंग मानते हुए ये कवि स्वीकार करते हैं—

बिना दुःख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार।

तो कवि वर्ड सवर्थ भी इसी स्वर में अंगीकार करते है—

"We shall grieve not, rather find strength in what remains behind."

वास्तव मे समन्वय का मार्ग ही श्रेष्ठ है इसलिए कवि शैले कहते हैं—

"O Wind,
If winter comes, can spring be for behind."

शक्तिवाद–निरूक्ति

डा॰ विजयपाल शास्त्री
रीडर दर्शन विभाग, गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय

शक्तिरेवैकं तत्त्वमिति शाक्त दर्शनस्य मतम्। इयमेव शक्ति: श्रुतिस्मृति पुराणेषु विविधैर्नामभि विविधैः स्वरुपैश्च व्याख्याता। प्रकृति र्मायाऽविद्या मिथ्या सत्या जगदम्बा देवी चिति राद्या चेति शास्त्रेषु गीयते। विरिञ्चि रनयैवोपादान भूतया जगत्सृजते, हरिरनयैव तत्पाति गिरिशश्चैतयैव तत्संहरति। तत्त्वार्थविदां द्वशि सैव विश्व जनन्याद्या प्रकृतिः। इत्थंभूताऽपि सा नास्ति कैश्चिदपि ज्ञेया, केवलं कार्यैरनुमेयैव स्वयम निर्वाच्याऽव्यक्ता च। विवेक चूडामणौ शंकरोऽभिदधाति—

> अव्यक्तनाम्नी परमेश शक्ति
> रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या।
> कार्यानुमेया सुधियैव माया
> यया जगत् सर्वमिद प्रसूयते॥

परमेशशक्तिरित्यभिधानेन नदं चिन्त्यं यत् सा परमेश्वराद् भिन्ना वर्तते। शक्ति शक्तिमतो–र्भेदो न जातु सम्भवति। सैव शक्तिः सैव च शक्तिमत्यपि। वेदान्त-मते तु परमेश्वरस्येच्छारुपिण्येक विद्यते सा। इच्छारुपायामेव तस्या सचराचर जगन्निलीनं तिष्ठति तस्या एव च बहि: स्फुरद् दृग्गोचरं भवति। इदमेव स्वरुपं वर्णित तस्याः शैवाचार्यैः राजानकैः–

> इच्छा सैव स्वच्छा सतत समवायिनी सती शक्तिः।
> सचराचरस्य जगतो बीजं निखिलस्य निजनिलीनस्य॥
> – षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोहः–२

शांकरदृष्ट्या सदसद्भ्यां भेदाभेदाभ्यां च न निर्वक्तुं शक्यत इयम्। अस्मादेव महाद्भुताऽनिर्वचनीया चेय गीयते। ब्रह्मणि जगत्प्रपञ्चोऽध्यस्तो यया शक्त्या अनुभूयते सैव अघटन घटना पटीयसी शक्ति र्मायेति व्यपदिश्येत। य एनां तत्त्वतो वेत्ति स निश्चयेन मृत्युं पाप्मानं च तीर्त्वाऽमृतो भवतीति वेदेऽभिहितम्—

य एतां मायाशक्तिं वेद स मृत्युं जयति ।
स पाप्मानं तरति सोऽमृतत्वमश्नि गच्छति ॥

देवीभागवतमते तु शक्तिभिन्नं नास्ति किंचित् तत्त्वान्तरम् । स्वयमेव सा निगदति—

अहमेवासं पूर्वं तु नान्यत् किंचिन्नराधिप ।
तदात्मस्वरूपं संवित् परब्रह्मैक नामकम् ॥
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यमनौ पम्यमनामयम् ।
तस्य काचित् स्वतः सिद्धा शक्तिमयिति विश्रुता ॥ – ७–३२

ब्रह्मज्ञाने समुत्पन्ने सति विलीनत्वान्न मायाया नित्यत्वं सम्भवति । तस्या असत्त्वमपि न क्षोदक्षमम् । व्यावहारिक सत्ताया विरोधत्वात् । आलोकान्धकारयोः सहानवस्थानमिव सदसद्रूपत्व भावात्मकत्वमपि तस्या न सम्भवति । इत्थं कोटित्रय रहितत्वान्मायाया अनिर्वचनीयत्वमंगी क्रियते ।

परमात्मन इच्छारूपिण्येषा माया न कदाचिदपि ततोऽसहभावं भजते । भगवान् स्वयमङ्गीकरोति यत् वन्हेरुष्णतेव, सूर्यस्य रश्मिरिव, चन्द्रस्य च चन्द्रिकेव मम माया सहजा मे नित्यशक्तिर्विद्यते । तया विना शिवोऽपि शव एव ।

पावकस्योष्णतेवेयमुष्णांशोरिव दीधितिः ।
चन्द्रस्य चन्द्रिकेवेयं ममेयं सहजाध्रुवा ॥
—देवी भागवत ७–५

केचित्पण्डिता तां मायां तप इति वदन्ति, केचित् तमः, अपरे प्रधानं, अन्येऽज्ञानम्, शाक्ताः प्रकृतिं शैवाश्च विमर्श इति कथयन्ति । दुर्गासप्तशतीमतेन तु दयाक्षमा क्षान्ति कान्ति बुद्धि– तृष्णा निद्रादीनि सर्वाणि रूपाणि तस्याः शक्तेरेव रूपाणि सन्ति ।

वेदेऽपि शक्तेः प्राधान्यं स्वीकृतम् ।
ऋग्वेदस्य देवी सूक्ते स्वयं देवी कथयति—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहम्—
मादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्य-
हमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥—१०/१०/१२५

अहमेवैका एकादशरुद्रैरष्टभिश्च वसुभिः सह चरामि । द्वादशादित्यरूपेण निखिलविश्वेदेवरूपैश्चापि अहमेव लोकत्रये व्याप्ता । मित्रावरुणौ इन्द्राग्नी चाहमेव दधामि । अश्विनौ चाप्यहमेव धारयामि" ।

इयमेव शक्ति. कालरात्रि मोहरात्रिश्चैव रात्रिश्चापि विद्यते । राति ददाति भक्तेभ्योऽभीष्टमिति रात्रिः । इयमेव जीवरात्रिरीश्वर रात्रिश्च । जीवरात्रि. सुषुप्ति रूपा यस्यां प्रत्यहं जीवात्मा व्यवहारो लीनो भवति । ईश्वर रात्रिश्च ब्रह्ममयात्मिका यत्र प्राकृतलय काले ईश्वरस्य व्यवहारो लुप्तो जायते । तयोरधिष्ठात्री भुवनेशी देवी आद्याशक्तिरूपेणेयमेव प्रसिद्धा वेदे । तदुक्त देवीपुराणे–

ब्रह्ममयात्मिका रात्रिः परमेश्वरलयात्मिका ।
तदधिष्ठात्री देवी तु भुवनेशी प्रकीर्तिता ॥

इयमेव शक्तिर्लोके श्रीनाम्ना लक्ष्मीनाम्नाऽपि च प्रसिद्धा । या लक्ष्यते जनै सा लक्ष्मीः । या श्रीयते सा श्रीः । हिरण्यगो अश्वादयः श्री रस्मादेव कारणात् कथ्यन्ते । तदेवोक्त ऋग्वेदे श्रीसूक्ते–

हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ॥

धनधान्यारोग्य सौन्दर्यादिविवृद्धये साधकाः श्रीदेवीलक्ष्म्याः सविधि यज्ञाद्यनुष्ठानेना-राधयन्ति–इति प्रतिपादित प्रतिवेदम्—

श्रीसूक्तं प्रतिवेदञ्च ज्ञेयं लक्ष्मी विवर्द्धनम् ।
हिरण्यवर्णा हरिणीमृचः पञ्चदश श्रियः ॥
श्रियं धातर्मयि धेहि प्रोक्तमाथर्वणे तथा ।
श्री सूक्तं यो जपेद् भक्त्या हुत्वा श्रीस्तस्य वै भवेत् ॥

—अग्नि पुराण २६२/१–३

वैदान्तिका स्तान्त्रिकाश्चोभावेव शक्तिवादं स्वीकुरुतः किन्तु स्वरूपगतभेदेन सह । वैदान्तिकाः कथयन्ति अव्यक्तात्मिका परमेशस्य चित्स्वरूपा शक्तिः माया जडा च विद्यते । सैवैका जगत उपादान कारणं ब्रह्मविवर्तं कारणं चेति । सा मायाशक्ति र्मिथ्या जडा च । मायायाः परिणामत्वेनेदं जगदपि मिथ्यैव जडं चापि वर्तते । जडाऽपि सा शक्ति-श्चिदात्म–सान्निध्यात् पङ्ग्वन्धन्यायेन चिन्मयत्वमवाप्नोति ।

तान्त्रिकास्तु व्याहरन्ति यत् पर ब्रह्मणि स्थिता शक्ति र्न जडा भवितुमर्हति किन्तु पर-ब्रह्मणोऽनतिरिक्ता चिद्रूपैव । एषा शक्ति-रनन्त रूपा व्यापका चास्ति । निखिलेऽस्मिन ब्रह्माण्डे यावत्यः शक्तयस्ताः सर्वा एव चिच्छक्तेरन्तर्भूता ।" पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते इति श्रुतिरपि शक्तेरनन्ततां स्वीकरोति । अर्थादिदं चिच्छक्तेरेव परिणामः । अत एव चिदात्मकमिदं विश्वं न जडम् ।

चितिरूपेण या कृत्स्न
मेतद् व्याप्य स्थिता जगत् ।"
"अहमेवैका जगत्यत्र
द्वितीया का ममापरा ।"
पश्यैता मूर्ख मय्येव
विशन्ति मद्विभूतयः ।"—दुर्गासप्तशती

इति स्मृतिरपि परमेश्वर तच्छक्त्योरनतिरेकं घोषयति ।

कालिदासोऽष्टमूर्तिव्याजेन जगदिदं चिच्छक्तेरुल्लासमेव वर्णितवान् । स स्तौति यत् जलम्, अग्निः, अग्निहोत्री, सूर्यचन्द्रौ, आकाशः पृथ्वी वायुश्चेति प्रत्यक्षा एता अष्टमूर्तयः शिवस्य देहभूतास्तदभिन्नाः शक्तय एव सन्ति । यथोक्तं शाकुन्तले—

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री ।
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषय गुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीज प्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः ।
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥

इत्थं सर्वं खल्विदं जगत् परमेश्वरस्य शक्तेरेव विकासः । तस्मात् जगदपि सत्यमेव । तस्मात् शक्तिवाद सिद्धान्तः श्रुति स्मृति पुराण सम्मतमेवेति शम् ।

वक्रोक्तिविभावनायां कुन्तकस्य स्वातन्त्र्यम्

श्री राधानाथ आचार्यः एम०ए०, एम.फिल, बि. एड्.,
काव्यव्याकरणपुराणतीर्थः
अध्यापकः, कृष्णचन्द्र महाविद्यालयः, वीरभूमिः पश्चिमवङ्गः

आनन्दवर्धनादर्वाचः काव्यतत्त्वसमीक्षकाः काव्यतत्त्वसमीक्षासरणौ तमेवाचार्य-प्रवरं प्रायेणानुसृत्य काव्येध्वन्यर्थस्यैव सर्वातिशायिप्राधान्यं समभ्युपगम्य तद्दृष्ट्या काव्यतत्त्वस्य विविधा दिशः स्वेषां स्वेषां कृतिषु समीक्षितवन्तः। एतेषु काव्यप्रकाश-रचयिता मम्मटभट्टः साहित्यदर्पणनिर्माता विश्वनाथकविराजो रसगङ्गाधरनिबन्धकः पण्डितराजो जगन्नाथश्च विशेषतः समुल्लेखमर्हन्ति। एवं काव्यमीमांसामार्गे ध्वनेर्नि-र्विवाद प्राधान्ये प्रतिष्ठापितेऽपि नवीनप्रतिभाप्रभोद्भासिताः केचन काव्यमीमांसका-अभिनवेन पथा काव्यतत्त्वं व्याख्यातुं प्रायतन्त। तेष्वपि केचन महिमभट्टादयो ध्वनितत्त्वमेव व्याहन्तुं व्यवसितमतयोऽपरे पुनः कुन्तकादयो ध्वनितत्त्वमप्रत्यक्षविषयमो ररीकृत्यापि स्वोपज्ञतत्त्वान्तरेण काव्यस्वरूपं विचारयितुं प्रवृत्ताः परिलक्ष्यन्ते। एवमानन्दवर्धनादुत्तरकालिकी काव्यचिन्ता त्रिधा विभक्ता-ध्वनितत्त्वानुसारिणी ध्वनितत्त्वविरोधिनी तत्त्वान्तरोद्भाविनी च। तत्त्वान्तरोद्भावकेषु आलङ्कारिकेषु कुन्तकोऽन्यतमः। तेन काव्यस्य लक्षणमेवं विहितम्—

"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

अस्यायमाशयः - शब्दार्थयोः साहित्यं वक्रतायुक्तायां रचनायां सन्निवेशितं काव्यज्ञानामाह्लाददायकं भवति चेत्तर्हि तत् काव्यं भवेत्। कुन्तकेन काव्यचिन्तायां वक्रोक्तेरुपरि विशेषतः गौरवं समारोपितम्। परन्तु इमां वक्रोक्तिचिन्तां भामहादारभ्य कुन्तकपूर्ववर्तिनमानन्दवर्धनं यावत् सर्वे आलङ्कारिकाः प्रत्यक्षतः परोक्षतो वा साहित्यमीमांसाशास्त्रे समालोचितवन्तः।

तथाहि वक्रोक्तिविषये भामहस्य भावना सारत एवं भवति–अतिशयोक्त्यपरपर्यायो वक्रोक्ति र्यथा काव्यत्व–सम्पादनविधावपरिहार्य्यतोपेक्षितानामलंकाराणामुपजीव्यभूता तथा सर्वेषामेव कविकर्मणामेकान्तत आधारभूता। वक्रोक्तेः स्वरूपानुध्याने भामहस्यासीद् व्याप्तिमती दृष्टिरिति निश्चप्रचं विभावयितुं शक्यते। दण्डिनः काव्यादर्शग्रन्थे प्रतिपादिता वक्रोक्ति र्यद्यपि भामहनिरूपिताया वक्रोक्तेः किञ्चिदिव सकुञ्चत्स्वरूपा तथापि तत्रास्ति नितरां व्याप्तिमत्ता। एतेनाचार्य्येण स्वभावोक्तिवक्रोक्तिभेदेन कविवाङ्मयस्य द्वैरूप्यं निगदितम्। अतः स्वभावोक्ति–व्यतिरिक्तानां सर्वेषामेव कविवाचामियमुपजीव्यभूतेति तात्पर्यतोऽवगम्यते। आचार्य्येणानेन यद्यपि प्रत्यक्षविधयातिशयोक्ति–वक्रोक्त्योरभिन्नता न प्रतिपादिता तथापि भामहाभिमतं तयो रभिन्नत्वं दण्डिनोऽप्यभिमतमासीदिति प्रतीयते। यतो भामहेनेवानेनापि तावदतिशयोक्तेः सर्वालंकाराश्रयत्वं स्वकण्ठत एव समीरित तथा वक्रोक्तेः स्वभावोक्तिभिन्नानां निखिलानां कविवचसामालम्बनत्वं व्यवस्थापितम्। तदयं निर्गलितार्थः समासाद्यते यद् भामहदण्डिनौ द्वावेव लोकविलक्षणया वाग्भङ्ग्या समीरितामुक्तिमेव वक्रोक्तिं मन्येते। उभयोरेतयोर्मतेऽलंकारान्तराणामियमेवाश्रयभूताः परन्तु दण्डिना वक्रोक्तितः स्वभावोक्तिः पृथक्कृता भामहेन न तथा कृता। वामनस्य काव्यालंकारसूत्रवृत्तिग्रन्थे वक्रोक्तेः स्वरूपं दण्डिनो ग्रन्थादपि स्फुटितरतया व्याप्तिविस्तृत विभाति। वामनेनेयं वाच्यालंकारविशेषरूपेण परिगणिता। तथाहि सामीप्य–सादृश्य–समवाय–वैपरीत्य–क्रियायोगरूपनिमित्तप्रभेदभिन्नासु लक्षणासु सादृश्यनिबन्धना लक्षणैव वक्रोक्तिरिति वामनस्य मतम्। एवं भामहेनोद्भावितं व्याप्तियुक्तं महनीयं वक्रोक्तिस्वरूपं दण्डिनो दृष्टौ किञ्चिन् [illegible] वामनस्यावेक्षायां ततोऽप्यधिकं नियन्त्रितं सदन्तिमे रुद्रटस्य समीक्षायां नियन्त्रणस्य चरमसीमानमारूढं शब्दालंकारविशेषरूपेणैव परिणतिमलभत। तथाहि श्लेषवशात् काकुवशाद् वा यदा वक्तुर्वाक्यं बोद्धान्यथावगम्यते तदा वक्रोक्तिर्जायते इति रुद्रटस्याभिमतम्। आनन्दवर्धनविरचितस्य ध्वन्यालोकग्रन्थस्य द्वितीयोद्द्योते वक्रोक्तेरथालंकारविशेषरूपेण समुल्लेखमात्रं परिप्राप्यते। परन्तु तृतीयोद्द्योते पुनरेकत्र वक्रोक्तेः सर्वव्यापि सामान्यस्वरूपविषये तावदानन्दवर्धनस्य भावना नयनयोरापतति।

तत्रानन्दवर्धनेन भामहनिरूपितस्य वक्रोक्त्यतिशयोक्त्योरभेदं स्वीकृत्य तस्याः सर्वालंकार-जीवितायमानत्वं सयुक्तिकं प्रतिपादितम् । तस्याश्च कविप्रतिभा-निष्पाद्यत्वमपि तेन समीरितम् ।

भामहेन समुद्भावितां व्याप्तिमतीं वक्रोक्तिभावनामवलम्ब्यैव प्रवर्तिता कुन्तकस्य वक्रोक्तिसमीक्षेति काव्यतत्त्वगवेषणपराणां विदुषामभिमतम् । भामहस्य वक्रोक्तिभावनां कुन्तकस्तथा प्रकर्षसीमानं नीतवान् यथा सैव वक्रोक्तिस्तदीये काव्यमीमंसाध्वनि काव्यजीवित-भूततां गता सर्वेषामेव काव्यसौन्दर्याणां मौलतत्त्वरूपेण परिगणिताभवत् । विविधेषु प्रसङ्गेषु प्रकारैर्णकविधैर्व्याख्यातं कुन्तकेन वक्रोक्तेस्तात्पतर्यम् । तथाहि विद्यमानेष्वपि प्राचीनेष्वलंकारनिवन्धेषु नवीनस्यालंकारनिवन्धस्य विरचन-प्रयोजनं समर्थयता कुन्तकेनोक्तम्—

"लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥"

विचारविश्लेषणादिभिर्वक्रोक्तेः सिद्धिरेव ग्रन्थस्यास्य परं प्रयोजनमिति सुप्रतीतमेव सैव वक्रोक्तिरत्र कारिकायां लोकोत्तरचमत्कार कारिवैचित्र्यरूपेण कथितेति प्रतिभाति अन्यत्रापि कुन्तकेन विचित्राभिधा वक्रोक्तिरित्युक्तम् । अपि च वक्रोक्तिरियं शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिवन्धव्यतिरेकितया सामान्यतः प्रसिद्धप्रस्थान-व्यतिरेकितया अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणितया च प्रतिपादिता । तथाहि शास्त्रेषु प्रात्यहिकजीवनेषु च प्रयुक्तायां भाषायां दुर्लभं कवीनां प्रातिभसृष्टौ चातिसुलभं वैचित्र्यमेव वक्रोक्तिरिति कुन्तकस्याभिमतमनुमातव्यम् । उत्तरकालिकेन महिमभट्टेन वक्रोक्तेरिदं स्वरूपं स्पष्टीकुर्वतोक्तम्-शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिवन्धव्यतिरेकि यद्वैचित्र्यं तन्मात्रलक्षणं वक्रत्वं नाम काव्यस्य जीवितमिति । अपिच-

"प्रसिद्धमार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये ।
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्ति रुदाहृता ॥"

कुन्तकेन पुनरेकत्र वैदग्ध्यभङ्गीभणितिर्वक्रोक्तिरित्युक्तम् । तच्च व्याख्यातमेवं वृत्तौ–वैदग्ध्यं विदग्धभाव: कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्ति: तया भणिति: । एतेन व्याख्यानेन कविप्रतिभासमुदितया विच्छित्त्या कथनमेव वक्रोक्तिरिति । व्याख्यानाद-स्मात् कविप्रतिभैव कविकर्मण उत्सभूतेति परिप्राप्यते । निरुक्तेभ्य: कुन्तकस्योक्तिभ्यो वक्रोक्ते: स्वरुपमेवं पर्यवस्यति–कविप्रतिभात: समुत्पन्ना लोकशास्त्रादिप्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणी लोकोत्तरचमत्कार–कारिणी काव्यजीवितभूता वक्रोक्ति : ।

कविप्रतिभाया आनन्त्यवशाद् यद्यपि वक्रताया : प्रकारभेदा बहव: सम्भवन्ति तथापि प्राधान्येन तस्य षड्विधस्य कुन्तकेन निगदितम्–वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता, वाक्यवक्रता प्रकरणवक्रता प्रबन्धवक्रता चेति ।

व्यञ्जना

डॉ० महावीर अग्रवाल
रीडर संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

व्यञ्जनाया ध्वनिसिद्धान्ते तादृगेव महत्वं यादृग् वेदान्ते मायायाः सांख्यदर्शने प्रकृत्याः व्याकरणदर्शने च परावाण्याः । नैयायिक–मीमांसकादि शास्त्रकारानुमोदिताभ्याम् अभिधालक्षणाभ्यां भिन्ना विलक्षणा व्यञ्जनानाम्नी वृत्तिर्ध्वनि प्रस्थानानुगामिभिरानन्दवर्धनमम्मट प्रभृतिभिराचार्यैरभ्युपगतेति सुविदितमेव विपश्चिताम् । प्राचीनैः शाब्दिकैर्मीमांसकै स्तार्किकैश्चानुल्लिखितचरा–मिमामानन्दवर्धन प्रतिपादितां वृत्तिमवलम्ब्य महान् मतिभेद : प्रावर्तिष्ट शास्त्रज्ञेषु विद्वत्सु । तथाहि अभिधा तात्पर्यलक्षणेति वृत्तित्र्यां जाग्रत्यां किमनयाश्रुतचरया ध्वनिवादिकपोलकल्पितया शास्त्रकारासम्मतया वृत्त्येति कठोरः प्रत्यादेशः समारब्धो व्यञ्जनाया न केवलं शाब्दिकानां मीमांसकानां तार्किकानामेव गोष्ठीष्वपि साहित्य शास्त्रज्ञानां मण्डलीष्वपि । तत्र शब्दाद्यावानर्थो लभ्यते तत्र अभिधालक्षणान्यतररूपैव वृत्तिः प्रगल्भत इति वृत्तिद्वय महताग्रहेणातिष्ठमाना मीमांसकास्तार्किकाश्च व्यञ्जनां सर्वथा निराकुर्वन्ति भवेद्यदि व्यञ्जना तदा अस्या अनयोर्द्वयोरेवान्तर्भावं सिद्धान्तयन्ति । इमां पद्धतिं मेषपंक्तिवदनुसरन्त आलङ्कारिका अप्यानन्दवर्धन व्यवस्थापितमिमं नव शब्द–व्यापारं प्रत्याख्यातवन्तः । मुकुलभट्ट-भट्टनायक–महिम भट्ट–प्रतिहारेन्दुराज भोजराज–धनिक–धनञ्जयप्रभृतयः साहित्य शास्त्रविचक्षणा आचार्या अपि गतानुगतिकतया अभिधया तात्पर्येणानुमानेन वा व्यञ्जनामुत्पाटयन्ति । एवमस्याः प्रतिष्ठापयितु रानन्दवर्धनस्य समयादेव प्रावर्तत व्यञ्जनायाः प्रत्यादेशः ।

परं व्यञ्जनाप्राणायाः अभिव्यक्तेर्विचारो न केवलमानन्दवर्धनेनैव प्रथमं निर्दिष्टः प्रत्युतास्य मूलं वेदेषु, यास्कप्रणीते निरुक्ते, प्राचीनेषु दर्शन ग्रन्थेष्वपि लक्षयितुं शक्यम् । तदेव समासतोऽत्र प्रस्तूयते—

ऋग्वेदे— ऋचां द्रष्टा ऋषिर्व्यञ्जना प्राणायितं रहस्यमिमं जानाति यच्छब्दानां प्रचलितादर्थादतिरिक्तोऽपि कश्चन रमणीयोऽर्थो भवति य वाग्विदोऽवगच्छति। साधारणा जनास्तु गूढं तमर्थं पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति, शृण्वन्तोऽपि न शृण्वन्ति परं तत्त्वज्ञास्तु प्रछन्नमथ द्रष्टुं प्रभवन्ति।

> उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
> उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
> ऋ० १०-७१-४

अनेनेदं स्पष्टं भवति यद् वाचि कश्चनार्थः विहितो भवति योऽसौ प्रचलितादर्थात् सुतरां रमणीयो भवति। किंच ऋग्वेदस्य—

> चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते वक्षः सु रुक्मां अधि येतिरे शुभे।
> अंसेष्वेषां नि मिमृक्षुर्ऋष्टयः साकं जज्ञिरे स्वधया दिवो नरः॥
> ऋ० १-६४-४

अस्मिन् मन्त्रे 'व्यञ्जते' इत्यत्र अभिव्यक्तिप्राणाया ध्वनिवादिनां व्यञ्जनाया मूलमन्वेष्टुं शक्यम्, यतो हि अत्र व्यञ्जते पदमृषिणा व्यक्तं कुर्वन्तीत्यर्थे प्रयुक्तम् क्तमेव—

> व्यञ्जते दिवो अन्तेष्वक्तून् विशो न युक्ता उषसो यतन्ते।
> सं ते गावस्तम आ वर्तयन्ति ज्योतिर्यच्छन्ति सवितेव बाहू॥
> ऋ० ७-७९-२

इत्यत्रापि व्यञ्जते इति पदं व्यक्तं कुर्वन्तीत्यर्थे प्रयुक्तं दृश्यते।

निरुक्ते— यास्कोमुनिर्निरुक्ते उपसर्गाणामर्थद्योतकताविषये गार्ग्यं शाकटायनाचार्ययोर्मतं निर्दिशति— 'न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनो नामाख्यात-

योस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति । अत्र द्योतनपदे व्यञ्जनाया मूलं निहितम् । परंतो ध्वनिवादिभिर्द्योतनशब्दो व्यञ्जनापर-पर्यायरूपेण स्वीकृत एव । यथोक्तं मम्मटेन—

तच्च व्यञ्जनध्वननद्योतनादि शब्द वाच्यमवश्यमो षितव्यम् ।
अतएव उपसर्गाणाम् अर्थद्योतकतां लक्ष्यीकृत्य नागेश भट्टेन
वैयाकरणानां कृते व्यञ्जना स्वीकार आवश्यकः निगदितः ।

महाभाष्य— भगवता पतञ्जलिना व्यञ्जन पदस्याभि व्यक्त्यर्थं बहुशः प्रयोग कृतः । तद्यथा—

तिङभिहितेन भावेन काल पुरुषोपग्रहा अभिव्यज्यन्ते कृदभिहितेन पुनर्न व्यज्यन्ते । अथवा नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यद्वर्तमानाः काला व्यज्यन्ते ।

वेदान्तदर्शने— वेदान्तदर्शनेऽपि सोऽहमस्मीति प्रतीतिरभिव्यक्तिरेव । मायो-पहितं ब्रह्म स्थूलोऽहं विपन्नोऽहमित्याद्यनुभवति । परं मायायां निराकृतायां गूढमद्वैतं शुद्धं ब्रह्माभिव्यक्तं भवति । एवं वेदान्तिनां मोक्षो नोत्पाद्यः परं मायावरण निराकरणे नाभिव्यक्तिरेव स्वरुपस्य । माया ब्रह्मस्वरूपमावृणोति । तदा मायाया आच्छादनमपा-क्रियते, तदा तत्त्वमसीति धीर्भवति । एवमाच्छादकापनयनेन स्वस्वरूपज्ञानं सोऽहम स्मत्यभिव्यक्तिरेव गूढस्य स्वस्वरुपस्य । तथा सति गूढस्याभिव्यक्तिरिति व्यञ्जनाजीवातो सूक्ष्मं बीजं वेदान्तदर्शने विभाव्यते ।

सांख्यदर्शने— सांख्यदर्शनस्य सत्कार्यवादेऽप्यभि व्यक्ति–विचारो दृश्यते । तत्र कारणस्य कार्यं आविर्भावोऽभिव्यक्तिसहोदर एव । कार्यं कारणे गूढं सन्तिष्ठते । एवं कारणे गूढस्य कार्यस्याविर्भावोऽभिव्यक्तिरेव । तद्यथा मृदि घटो गूढोऽनभिव्यक्तः सन् विद्यते । परं कुम्भकारेण घटे चिकीर्षिते सति मृदव्यक्तो घटः कारणावस्थायां पिहितः कार्या

वस्थायामाविर्भूय घटो भवति, जलानयनाद्यनेक कार्येषु चोपयुज्यते । एवं कारणात्मनो मृदः कार्यावस्थायां ग्रभिव्यक्ति रसान्वेव घटः ।

अनेन प्रकारेण सांख्यदर्शन शास्त्रानुमते सत्कार्यवादेऽप्यभिव्यक्ति विचारावालोकनेन व्यञ्जनाया सूक्ष्मातिसूक्ष्मं रूपं सांख्यदर्शनेऽपि सम्भाव्यते ।

इत्थं प्राचीनेषु ग्रन्थेषु व्यञ्जनाया मूलं दृश्यत एव ।